

## Chapter इक्कीस

### महाराज पृथु द्वारा उपदेश

मैत्रेय उवाच

मौक्तिकैः कुसुमस्त्रिभिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः ।

महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; मौक्तिकैः—मोतियों से; कुसुम—फूलों की; स्त्रिभिः—मालाओं से; दुकूलैः—वस्त्र से; स्वर्ण—सुनहले; तोरणैः—द्वारों से; महा-सुरभिभिः—अत्यधिक सुगन्धित; धूपैः—धूप ( सुगन्धित द्रव्य ) से; मण्डितम्—अलंकृत; तत्र तत्र—वहाँ-वहाँ; वै—निश्चय ही।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से कहा : जब राजा ने अपनी नगरी में प्रवेश किया, तो उसके स्वागत के लिए नगरी को मोतियों, पुष्पहारों, सुन्दर वस्त्रों तथा सुनहरे द्वारों से सुन्दर ढंग से सजाया गया था और सारी नगरी अत्यन्त सुगन्धित धूप से सुवासित थी।

तात्पर्य : वास्तविक ऐश्वर्य तो प्राकृतिक देन से मिलता है यथा सोना, चाँदी, मोती, मणि, ताजे पुष्प, वृक्ष तथा रेशम। वैदिक सभ्यता भगवान् की इन्हीं प्राकृतिक देनों को ऐश्वर्य तथा अलंकरण मानती है। ऐसे ऐश्वर्य से मानसिक दशा तुरन्त बदल जाती है और पूरे वातावरण का अध्यात्मीकरण हो जाता है। राजा पृथु की राजधानी ऐसे ही अमूल्य ऐश्वर्यमय अलंकरणों से सजाई गई थी।

चन्दनागुरुतोयाद्र्रथ्याचत्वरमार्गवत् ।

पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिर्भिरर्चितम् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

चन्दन—चन्दन; अगुरु—एक सुगन्धित बूटी, अरगजा; तोय—जल से; आर्द्र—छिड़का हुआ; रथ्या—रथमार्ग; चत्वर—छोटा उद्यान; मार्गवत्—गलियाँ; पुष्प—फूल; अक्षत—अखंड, समूचे; फलैः—फलों के द्वारा; तोक्मैः—खनिज; लाजैः—गीले अन्न; अर्चिर्भिः—दीपकों से; अर्चितम्—सजाया गया।

नगर भर की गलियाँ, सड़कें तथा छोटे पार्क चन्दन तथा अरगजा के सुगन्धित जल से सींच दिये गये थे और सर्वत्र समूचे फलों, फूलों, भीगोए हुए अन्नों, विविध खनिजों तथा दीपों के अलंकरणों से सजे थे। सभी मांगलिक वस्तुओं के दृश्य उपस्थित कर रहे थे।

सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम् ।

तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलङ्कितम् ॥ ३ ॥

### शब्दार्थ

स-वृन्दैः—फूलों तथा फलों के सहित; कदली-स्तम्भैः—केले के ख भों से; पूग-पोतैः—सुपारी की टहनियों से; परिष्कृतम्—सुन्दर ढंग से स्वच्छ किये गये; तरु—नये पौधे; पल्लव—आम की नवीन कोंपलें; मालाभिः—मालाओं से; सर्वतः—सर्वत्र; समलङ्कितम्—अच्छी तरह सजाया हुआ।

चौराहों पर फलों तथा फूलों के गुच्छे एवं केले के ख भे तथा सुपारी की टहनियाँ लगाई गई थी। यह सारी सजावट मिलकर अत्यन्त आकर्षक लग रही थी।

प्रजास्तं दीपबलिभिः सम्भृताशेषमङ्गलैः ।

अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः ॥ ४ ॥

### शब्दार्थ

प्रजाः—नागरिक; तम्—उसको; दीप-बलिभिः—दीपों से; सम्भृत—सज्जित; अशेष—अपार; मङ्गलैः—मांगलिक सामग्री से; अभीयुः—स्वागत के लिए आगे आये; मृष्ट—सुन्दर कान्ति वाली; कन्याः च—तथा अविवाहित लड़कियाँ; मृष्ट—टकराते हुए; कुण्डल—कान का आभूषण; मण्डिताः—अलंकृत।

जब राजा ने नगर में प्रवेश किया, तो समस्त नागरिकों ने दीप, पुष्प तथा दधि जैसे अनेक मांगलिक द्रव्यों से उनका स्वागत किया। राजा की अगवानी अनेक सुन्दर कन्याओं ने भी की जिनके शरीर विविध आभूषणों से सुशोभित थे और जिनके कुण्डल परस्पर टकरा रहे थे।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार किसी विशिष्ट अतिथि, जैसे कि दूल्हे, राजा या गुरु के स्वागत में सुपारी, केला, नवांकुरित गोहूँ, धान, दही तथा सिंदूर जैसे मांगलिक प्राकृतिक पदार्थों को शहर भर में बिखेर दिया जाता है। इसी प्रकार अविवाहित लड़कियों द्वारा, जो बाह्य तथा अन्तः से शुद्ध होती हैं और सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सज्जित होती हैं, स्वागत कराया जाता है, जो शुभ माना जाता है। कुमारियाँ अर्थात् अविवाहित कन्याएँ, जिनका स्पर्श पुरुष द्वारा नहीं हुआ होता, समाज की माँगलिक सदस्याएँ होती हैं। आज भी हिन्दू समाज के अत्यन्त रूढ़िगत परिवारों में अविवाहित लड़कियों को न तो घर के बाहर जाने दिया जाता है और न लड़कों से मिलने दिया जाता है। जब तक विवाह नहीं हो जाता, उनके माँ-बाप बड़ी सावधानी से उनकी देखरेख करते हैं, विवाह के बाद उनके युवा पति उनकी रक्षा करते हैं और प्रौढ़ होने पर उनकी सन्तानें उनकी देखरेख करती हैं। इस प्रकार से रक्षित स्त्रियाँ मनुष्य के लिए शक्ति का शुभ स्रोत बनी रहती हैं।

शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चत्विजाम् ।

विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; दुन्दुभि—दुन्दुभियों के; घोषेण—शब्द से; ब्रह्म—वैदिक; घोषेण—उच्चारण से; च—भी; ऋत्विजाम्—पुरोहितों के; विवेश—प्रवेश किया; भवनम्—महल में; वीरः—राजा; स्तूयमानः—पूजित होकर; गत-स्मयः—अहंकार-रहित ।

जब राजा ने महल में प्रवेश किया, तो शंख तथा दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुरोहित-गण वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने लगे और बन्दीजन विभिन्न प्रकार से स्तुतिगान करने लगे। किन्तु इतने स्वागत-समारोह के बावजूद राजा पर रञ्जमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा।

तात्पर्य : राजा का अत्यन्त शानदार ऐश्वर्यमय ढंग से किया गया, किन्तु उसे किसी प्रकार का गर्व नहीं हुआ। अतः कहा जाता है कि शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यवान महापुरुष कभी गर्व नहीं करते। इस प्रसंग में वृक्ष का उदाहरण दिया जाता है, जो फूलों-फलों से लदा होकर भी विनयशीलता नीचे झुक जाता है, अहंकार से सीधा तना हुआ नहीं रहता। यह महापुरुषों के चरित्र का विलक्षण गुण है।

पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः ।

पौराज्ञानपदांस्तांस्तान्प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥ ६ ॥

#### शब्दार्थ

पूजितः—पूजा जाकर; पूजयाम् आस—पूजा की; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ, सर्वत्र; महा-यशाः—महान् कार्य करने वाले; पौरान्—नगर के भद्र जन; जान-पदान्—सामान्य नागरिक; तान् तान्—उसी प्रकार से; प्रीतः—प्रसन्न किया; प्रिय-वर-प्रदः—समस्त वर देने के लिए प्रस्तुत।

नगर के भद्र तथा सामान्य जनों ने राजा का हार्दिक स्वागत किया और राजा ने भी उन्हें मनवांछित आशीर्वाद दिया।

तात्पर्य : सम्मान्य राजा के पास उसकी प्रजा की पहुँच होती थी। सामान्य रूप से बड़े तथा छोटे सभी तरह के लोग राजा को देखने की इच्छा रखते थे और उससे आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते थे। राजा को इसका पता रहता था, अतः जब भी वह प्रजा से मिलता था उनकी इच्छाओं की अविलम्ब पूर्ति करता था या उनकी शिकायतों को दूर करता था। इस प्रकार के व्यवहार में राजतंत्र तथाकथित प्रजातंत्र सरकार से अच्छा होता है, क्योंकि प्रजातंत्र में प्रजा कार्यकारी अध्यक्ष से नहीं मिल पाती और प्रजा की शिकायतों को दूर करने के लिए कोई उत्तरदायी नहीं होता। उत्तरदायी राजतंत्र में सरकार के विरुद्ध प्रजा की कोई शिकायत नहीं रहती थी और यदि कोई रहती भी थी तो राजा के पास पहुँच कर तुरन्त उसका निराकरण किया जा सकता था।

स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः

कर्माणि भूयांसि महान्महत्तमः ।

कुर्वन्शशासावनिमण्डलं यशः

स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् ॥ ७ ॥

### शब्दार्थ

सः—राजा पृथु; एवम्—इस प्रकार; आदीनि—प्रारम्भ से ही; अनवद्य—उदार; चेष्टितः—विभिन्न कार्य करते हुए; कर्माणि—कार्य; भूयांसि—बारम्बार; महान्—महान्; महत्-तमः—सबसे महान्; कुर्वन्—करते हुए; शशास—राज्य किया; अविनिमण्डलम्—पृथ्वी पर; यशः—ख्याति; स्फीतम्—व्यापक; निधाय—प्राप्त करके; आरुरुहे—प्राप्त किया; परम् पदम्—परमेश्वर के चरणकमलों को ।

राजा पृथु महानतम से भी महान् महापुरुष थे, अतः वे सबों के पूज्य थे। उन्होंने पृथ्वी पर शासन करते हुए अनेक प्रशंसनीय कार्य किये और अत्यन्त उदार बने रहे। ऐसी महान् सफलता प्राप्त कर तथा सारे विश्व में अपनी कीर्ति फैलाकर अन्त में वे भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : प्रजा पर शासन करते हुए उत्तरदायी राजा या कार्याध्यक्ष को अनेक कार्य करने पड़ते हैं। राजा या सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य वेदसम्मत विभिन्न यज्ञों को करना है। दूसरा कर्तव्य यह देखना है कि जाति विशेष के लोग अपना नियत कार्य करते रहें। राजा का यह भी कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्यों का पूर्णतः पालन कर रहा है। इसके साथ ही, जैसाकि राजा पृथु ने उदाहरण प्रस्तुत किया, राजा को चाहिए कि वह अधिकाधिक अन्नोत्पादन के लिए पृथ्वी का विकास करे।

महान् पुरुष भी कई तरह के होते हैं—महान्, महानतर तथा महानतम। किन्तु राजा पृथु इन सबसे बढ़कर थे। इसीलिए उन्हें यहाँ महत्तम कहा गया है। महाराज पृथु क्षत्रिय थे और वे क्षत्रिय धर्म का पूर्ण रूप से निर्वाह करते थे। इसी प्रकार ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र भी अपने-अपने कार्य का सुचारु रूप से निर्वाह कर सकते हैं जिससे जीवन के अन्त में वैकुण्ठलोक की प्राप्ति हो सकती है, जिसे परम पद कहा गया है। परं पदम् अर्थात् वैकुण्ठलोक की प्राप्ति केवल भक्ति से सम्भव है। निर्गुण ब्रह्म क्षेत्र भी परं पदम् कहलाता है, किन्तु जब तक मनुष्य का भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता, वह इस परं पदम् से इस भौतिक जगत में फिर गिर जाता है। इसीलिए कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः—* निर्विशेषवादी परम पद अथवा निर्गुण ब्रह्मज्योति को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं,

किन्तु दुर्भाग्यवश परमेश्वर से सम्बन्ध विहीन होने के कारण वे पुनः भौतिक जगत में चले आते हैं। यदि कोई अन्तरिक्ष में उड़ सके तो वह ऊँचाई तक जा सकता है, किन्तु जब तक वह किसी लोक को प्राप्त न कर ले, उसे पुनः पृथ्वी पर आना पड़ता है। इसी प्रकार जो निर्विशेषवादी निर्गुण ब्रह्मज्योति के परमपद तक पहुँच कर वैकुण्ठलोक में प्रवेश नहीं कर पाते, वे पुनः इस जगत में लौट आते हैं और उन्हें भौतिक लोकों में से किसी एक में शरण लेनी पड़ती है। भले ही वे ब्रह्मलोक या सत्यलोक प्राप्त कर लें, किन्तु ये सभी लोक तो भौतिक जगत में ही स्थित हैं।

सूत उवाच

तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं  
गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम् ।  
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते  
कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; तत्—वह; आदि-राजस्य—आदि राजा की; यशः—ख्याति; विजृम्भितम्—अत्यन्त योग्य; गुणैः—गुणों से; अशेषैः—असीम; गुण-वत्—उपयुक्त; सभाजितम्—प्रशंसित होकर; क्षत्ता—विदुर; महा-भागवतः—परम-भक्त; सदः-पते—ऋषियों के नायक; कौषारविम्—मैत्रेय से; प्राह—कहा; गृणन्तम्—बातें करते; अर्चयन्—सादर नमस्कार करते।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा : हे ऋषियों के नायक शौनक जी, संसार भर में अत्यन्त योग्य, महिमामंडित तथा जगत भर में प्रशंसित आदि राजा पृथु के विविध कार्यों के विषय में मैत्रेय ऋषि को इस प्रकार कहते हुए सुनकर महान् भक्त विदुर ने अत्यन्त विनीत भाव से उनकी पूजा की और उनसे निम्नानुसार प्रश्न किया।

विदुर उवाच

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः ।  
बिभ्रत्स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह ( राजा पृथु ); अभिषिक्तः—राज्याभिषेक होने पर; पृथुः—राजा पृथु; विप्रैः—ऋषियों तथा ब्राह्मणों द्वारा; लब्ध—प्राप्त; अशेष—असंख्य; सुर-अर्हणः—देवताओं द्वारा दिये गये उपहार; बिभ्रत्—विस्तार किया; सः—उसने; वैष्णवम्—भगवान् विष्णु से प्राप्त; तेजः—शक्ति; बाह्वोः—भुजाएँ; याभ्याम्—जिनसे; दुदोह—दुहा; गाम्—पृथ्वी को।

विदुर ने कहा : हे ब्राह्मण मैत्रेय, यह जानकर अत्यंत हर्ष हो रहा है कि ऋषियों तथा ब्राह्मणों ने राजा पृथु का राज्याभिषेक किया। सभी देवताओं ने उन्हें अनेक उपहार दिये और

उन्होंने स्वयं भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त करके अपने प्रभाव का विस्तार किया। इस प्रकार उन्होंने पृथ्वी का अत्यधिक विकास किया।

**तात्पर्य :** चूँकि पृथु महाराज भगवान् विष्णु के शक्त्यावेश अवतार थे और स्वभावतः भगवान् के महान् वैष्णव भक्त थे, अतः सभी देवता उनसे प्रसन्न थे और उन्हें नाना प्रकार के उपहार दे रहे थे जिस से वे अपनी राजकीय शक्ति का प्रयोग कर सके। ऋषियों तथा साधु पुरुषों ने भी उनके राज्याभिषेक में भाग लिया था। इस प्रकार उनका आशीर्वाद प्राप्त करके राज पृथु ने पृथ्वी पर शासन किया और प्रजा को प्रसन्न करने के लिए पृथ्वी के समस्त साधनों का दोहन किया। इसके विषय में राजा पृथु के कार्यों से सम्बद्ध पिछले एक अध्याय में बतलाया जा चुका है। जैसाकि अगले श्लोक से पता चलेगा, प्रत्येक राजाध्यक्ष को अपने राज्य में शासन करने के लिए महाराज पृथु के चरण-चिह्नों का अनुसरण करना चाहिए। चाहे प्रमुख कार्यकारी राजा हो या राष्ट्रपति, चाहे राजतंत्र हो या प्रजातंत्र, यह विधि इतनी पूर्ण है कि इसका पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति सुखी रहेगा और वह भगवान् की भक्ति सरलता से कर सकेगा।

को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो

यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः ।

लोकाः सपाला उपजीवन्ति काम-

मद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम् ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

कः—कौन; नु—लेकिन; अस्य—इस राजा पृथु की; कीर्तिम्—ख्याति; न शृणोति—नहीं सुनता; अभिज्ञः—बुद्धिमान; यत्—उसका; विक्रम—वीरता; उच्छिष्टम्—जूठन; अशेष—असंख्य; भूपाः—राजा; लोकाः—लोक; स-पालाः—अपने देवताओं सहित; उपजीवन्ति—जीवन यापन करते हैं; कामम्—वांछित वस्तुएँ; अद्य अपि—आज भी; तत्—वह; मे—मुझसे; वद—कृपया कहो; कर्म—कार्य; शुद्धम्—शुभ।

पृथु महाराज के कर्म इतने महान् थे और उनकी शासन-प्रणाली इतनी उदार थी कि आज भी सभी राजा तथा विभिन्न लोकों के देवता उनके चरण-चिह्नों पर चलते हैं। भला ऐसा कौन होगा जो उनकी कीर्तिमय कार्यों को सुनना नहीं चाहेगा? उनके कर्म इतने पवित्र तथा शुभ हैं कि मैं उनके सम्बन्ध में पुनः पुनः सुनना चाहता हूँ।

**तात्पर्य :** संत विदुर द्वारा पृथु महाराज के विषय में बारम्बार सुनने का मन्तव्य यह था कि सामान्य राजाओं तथा कार्याध्यक्षों के लिए ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जाये जिससे वे पृथु महाराज के कार्यों के

विषय में सुनकर अपने राज्यों में प्रजा की शान्ति तथा उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए ठीक से शासन चला सकें। दुर्भाग्यवश आज के समय में कोई भी पृथु महाराज के विषय में सुनने या उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने की परवाह नहीं करता, इसीलिए विश्व का कोई भी राष्ट्र न तो सुखी है और न आध्यात्मिक ज्ञान में अग्रसर है, यद्यपि मानव-जीवन का एकमात्र ध्येय एवं उद्देश्य यही है।

मैत्रेय उवाच

गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तरा क्षेत्रमावसन् ।

आरब्धानेव बुभुजे भोगान्पुण्यजिहासया ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; गङ्गा—गंगा नदी; यमुनयोः—यमुना नदी के; नद्योः—दो नदियों के; अन्तरा—मध्यवर्ती; क्षेत्रम्—भूमि में; आवसन्—रहते हुए; आरब्धान्—प्रारब्धवश; एव—सदृश; बुभुजे—भोग किया; भोगान्—सम्पत्ति; पुण्य—पवित्र कार्य; जिहासया—कम करने के लिए।

मैत्रेय ऋषि ने विदुर से कहा : हे विदुर, राजा पृथु गंगा तथा यमुना इन दो महान् नदियों के मध्यवर्ती भूभाग में रहते थे। वे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् थे, अतः ऐसा प्रतीत होता था मानो अपने पूर्व पुण्यों के फल को कम करने के लिए ही प्रारब्ध से प्राप्त सम्पत्ति का भोग कर रहे थे।

तात्पर्य : “पवित्र” तथा “अपवित्र” शब्द केवल सामान्य प्राणी के कर्मों के सम्बन्ध में लागू होते हैं। किन्तु महाराज पृथु को तो साक्षात् भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त थी, अतः उन पर पवित्र तथा अपवित्र कार्यों का फल लागू नहीं होता। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, भगवान् जब किसी कार्य विशेष के उद्देश्य से किसी जीव को विशेष शक्ति प्रदान करते हैं, तो उसे शक्त्यावेश अवतार कहा जाता है, किन्तु पृथु महाराज शक्त्यावेश अवतार के साथ-साथ महान् भक्त भी थे। भक्त को विगत कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता। ब्रह्म-संहिता में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्—* भगवान् द्वारा भक्तों के पूर्व पुण्य तथा पापों के फल निरस्त कर दिए जाते हैं। *आरब्धान् एव* शब्दों का अर्थ है “मानो पूर्व कर्मों द्वारा प्राप्त,” किन्तु पृथु महाराज के लिए पूर्व कर्मों के फल की बात ही नहीं उठती, अतः यहाँ पर *एव* शब्द सामान्य पुरुषों से तुलना के अर्थ में प्रयुक्त है। भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढाः।* इसका यह अर्थ हुआ कि कभी-कभी लोग भगवान् के अवतार को सामान्य पुरुष मान लेते हैं। भले ही परमेश्वर, उनके अवतार या भक्त अपने को सामान्य व्यक्ति मानें, किन्तु उन्हें कभी भी ऐसा नहीं मानना चाहिए। न ही ऐसे व्यक्ति को अवतार या भक्त मान लेना चाहिए

जो शास्त्रों तथा आचार्यों के प्रामाणिक वचनों के द्वारा पुष्ट न होता हो। शास्त्र के प्रमाण से सनातन गोस्वामी ने भगवान् चैतन्य महाप्रभु को श्रीकृष्ण का साक्षात् अवतार मान लिया, यद्यपि भगवान् चैतन्य ने इस तथ्य को कभी प्रकट नहीं किया। इसीलिए यह कहा जाता है कि आचार्य या गुरु को कभी सामान्य व्यक्ति नहीं समझना चाहिए।

सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक् ।

अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥ १२ ॥

### शब्दार्थ

सर्वत्र—सभी स्थानों पर; अस्खलित—अखण्ड, अटल; आदेशः—आज्ञा; सप्त-द्वीप—सात द्वीप; एक—एक; दण्ड-धृक्—राजदण्ड धारण करने वाला; अन्यत्र—के अतिरिक्त; ब्राह्मण-कुलात्—ब्राह्मण तथा साधु पुरुष; अन्यत्र—के अतिरिक्त; अच्युत-गोत्रतः—भगवान् के वंशज ( वैष्णव )।

महाराज पृथु चक्रवर्ती राजा थे और इस भूमण्डल के सातों द्वीपों पर शासन करने के लिए राजदण्ड धारण करने वाले थे। उनके अटल आदेश का उल्लंघन साधु-जनों, ब्राह्मणों और वैष्णवों के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता था।

तात्पर्य : सप्तद्वीप से भूमण्डल तक के जिन सात विशाल द्वीपों या महाद्वीपों का बोध होता है वे हैं—एशिया, यूरोप, अफ्रीका, उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा ओशीनिया। आधुनिक युग में लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि वैदिक काल में या पुरैतिहासिक काल में अमरीका तथा संसार के अन्य कई भूभागों का पता नहीं था, किन्तु यह सच नहीं है। पृथु महाराज ने तथाकथित पुरैतिहासिक काल से कई हजार वर्ष पूर्व संसार पर शासन किया और यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि उस काल में संसार के सभी भागों का न केवल पता था, वरन् वे एक ही राजा पृथु द्वारा शासित भी थे। जिस देश में पृथु महाराज ने वास किया था वह अवश्य ही भारत रहा होगा, क्योंकि इस अध्याय के श्लोक ११ में बताया जा चुका है कि वे गंगा तथा यमुना नदियों के द्वाबे में निवास करते थे, जिसे “ब्रह्मावर्त” कहा जाता है और आधुनिक काल में इसे ही पंजाब तथा उत्तरी भारत का भूभाग जाना जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कभी भारत के राजाओं ने समूचे संसार पर राज्य किया और उनकी संस्कृति वैदिक थी।

अस्खलित शब्द बताता है कि राजा के आदेश का सारे विश्व में कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता था। किन्तु ऐसे आदेश कभी भी साधु पुरुषों या भगवान् विष्णु के भक्तों को वश में करने के लिए जारी



नहीं किये जाते थे। भगवान् अच्युत कहलाते हैं और भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण को इसी नाम से सम्बोधित किया है ( *सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत* )। अच्युत का अर्थ है, जो कभी गिरता नहीं, क्योंकि प्रकृति के गुणों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब कोई मनुष्य अपनी मूल स्थिति से नीचे गिरकर भौतिक जगत में आता है, तो वह च्युत कहलाता है, अर्थात् वह अच्युत से अपने सम्बन्ध को भूल रहा है। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का अंश या पुत्र है। प्रकृति के गुणों के वश में आकर जीवात्मा इस सम्बन्ध को भूल जाता है और विभिन्न योनियों के रूप में सोचता है, किन्तु जब पुनः उसे पूर्व चेतना प्राप्त होती है, तो वह ऐसी शारीरिक उपाधियों से बाधित नहीं होता। भगवद्गीता (५.१८) में पण्डिताः समदर्शिनः के शब्दों में इसे सूचित किया गया है।

भौतिक उपाधियों से जाति, रंग, नस्ल, राष्ट्रीयता आदि के रूप में अन्तर उत्पन्न होता है। जहाँ तक भौतिक शरीर का सम्बन्ध है, विभिन्न गोत्र अन्तर बताने वाले हैं, किन्तु जब कोई कृष्णभावनामृत में आ जाता है, तो वह तुरन्त अच्युत गोत्रधारी बन जाता है और इस प्रकार वह जाति, नस्ल, रंग तथा राष्ट्रीयता सम्बन्धी समस्त विचारों को लॉघ जाता है।

पृथु महाराज का ब्राह्मण कुल पर जो वैदिक ज्ञान में विद्वान् पण्डितों का द्योतक है, या अन्य वैष्णवों पर अधिकार न था, जो वैदिक ज्ञान से ऊपर थे। पद्म पुराण में यह कहा गया है—

*अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जाति-बुद्धि  
विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः ।  
श्रीविष्णोर्नाम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्द सामान्यबुद्धि-  
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः ॥*

“जो यह सोचता है कि मन्दिर का अर्चा-विग्रह काष्ठ या पत्थर का बना है, जो शिष्य-परम्परा में गुरु को सामान्य व्यक्ति मानता है, जो अच्युत गोत्री वैष्णवों को किसी विशेष जाति या नस्ल से सम्बन्धित मानता है या जो चरणामृत अथवा गंगा जल को सामान्य जल मानता है, वह नरक में बसने के योग्य है।”

इस श्लोक में प्रस्तुत किये गये तथ्यों से प्रतीत होता है कि लोग तब तक राजा द्वारा शासित रहने चाहिए, जब तक वे वैष्णवों तथा ब्राह्मणों के पद पर नहीं पहुँच जाते, क्योंकि वे किसी के भी अधीन

नहीं होते। ब्राह्मण वह है, जो ब्रह्म को जानता है और वैष्णव वह है, जो भगवान् की सेवा करता है।

एकदासीन्महासत्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम् ।  
समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम ॥ १३ ॥

**शब्दार्थ**

एकदा—एक बार; आसीत्—व्रत लिया; महा-सत्र—महान् यज्ञ; दीक्षा—दीक्षा; तत्र—उस उत्सव में; दिव-ओकसाम्—  
देवताओं का; समाजः—सभा; ब्रह्म-ऋषीणाम्—परम साधु ब्राह्मणों का; च—भी; राज-ऋषीणाम्—परम साधु राजाओं का;  
च—भी; सत्-तम—सबसे महान् भक्त।

एक बार राजा पृथु ने एक महान् यज्ञ सम्पन्न करने का व्रत लिया जिसमें ऋषि, ब्राह्मण,  
स्वर्गलोक के देवता तथा बड़े-बड़े राजर्षि एकत्र हुए।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि यद्यपि राजा पृथु का वासस्थान  
भारत में गंगा तथा यमुना नदियों के मध्य में था, किन्तु उनके उस महान् यज्ञ में देवताओं ने भी भाग  
लिया, जो यह बताता है कि पहले देवतागण इस लोक में आया करते थे। इसी प्रकार अर्जुन, युधिष्ठिर  
तथा अन्य अनेक महापुरुष उच्चलोकों की यात्रा किया करते थे। इस प्रकार उपयुक्त विमानों तथा  
अन्तरिक्ष यानों द्वारा लोक लोकान्तर में सञ्चार था।

तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः ।  
उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव ॥ १४ ॥

**शब्दार्थ**

तस्मिन्—उस सभा में; अर्हत्सु—पूज्यों का; सर्वेषु—सभी; सु-अर्चितेषु—भली-भाँति पूजित; यथा-अर्हतः—योग्यता के  
अनुसार; उत्थितः—उठकर खड़े हो गये; सदसः—सभासदों के; मध्ये—बीच; ताराणाम्—तारों के; उडु-राट्—चन्द्रमा; इव—  
सदृश।

उस महान् सभा में महाराज पृथु ने सर्वप्रथम समस्त सम्मानीय अतिथियों की उनके पदों के  
अनुसार यथा-योग्य पूजा की। फिर वे उस सभा के मध्य में खड़े हो गये। ऐसा प्रतीत हुआ मानो  
तारों के बीच पूर्ण चन्द्रमा का उदय हुआ हो।

तात्पर्य : वैदिक पद्धति के अनुसार पृथु महाराज ने उस यज्ञस्थल पर महापुरुषों के स्वागत की जो  
व्यवस्था की थी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतिथि स्वागत की पहली विधि उनका पाद-प्रक्षालन है  
और वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि जब महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया, तो श्रीकृष्ण को  
अतिथियों के पाद-प्रक्षालन का कार्य सौंपा गया था। इसी तरह महाराज पृथु ने भी देवताओं, ऋषियों,

ब्राह्मणों तथा महाराजाओं के समुचित स्वागत की व्यवस्था की थी।

प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः ।

सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः ॥ १५ ॥

**शब्दार्थ**

प्रांशुः—अत्यन्त ऊँचा; पीन-आयत—पूर्ण तथा चौड़ी; भुजः—बाँहें; गौरः—गोरे रंग का; कञ्ज—कमल के समान; अरुण-ईक्षणः—चमकीले नेत्र, जो सूर्योदय के समान हैं; सु-नासः—सीधी नाक; सु-मुखः—सुन्दर मुँह; सौम्यः—सौम्य; पीन-अंसः—उठे हुए कंधे; सु—सुन्दर; द्विज—दाँत; स्मितः—हँसते हुए।

राजा पृथु का शरीर अत्यन्त ऊँचा और पृष्ठ था और उनका रंग गोरा था। उनकी बाहें पूर्ण तथा चौड़ी और नेत्र उदीयमान सूर्य के समान चमकीले थे। उनकी नाक सीधी, मुख अत्यन्त सुन्दर तथा व्यक्तित्व सौम्य था। मुस्कान से युक्त उनके मुख में दाँत सुन्दर ढंग से लगे थे।

तात्पर्य : चारों वर्णों में क्षत्रिय पुरुष तथा स्त्रियाँ सामान्यतः अत्यन्त सुन्दर होते हैं। जैसाकि अगले श्लोकों से प्रकट है, पृथु के शारीरिक अंग न केवल आकर्षक थे, वरन् उनके शरीर में सभी शुभ लक्षण उपलब्ध थे।

कहा जाता है, “मुख मन का सूचक है।” मनुष्य की मानसिक स्थिति उसके चेहरे की बनावट से प्रकट होती है। किसी व्यक्ति विशेष की शारीरिक बनावट उसके पूर्वकर्मों के अनुसार होती है, क्योंकि पूर्वकर्मों के अनुसार ही उसकी अगली शारीरिक बनावट होती है। चाहे मानव समाज हो, चाहे पशु या देवताओं का समाज हो। विभिन्न प्रकार के शरीरों में देहान्तर का यह प्रमाण है।

व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः ।

आवर्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुदग्रपात् ॥ १६ ॥

**शब्दार्थ**

व्यूढ—चौड़ी; वक्षाः—छाती; बृहत्-श्रोणिः—चौड़ी कमर; वलि—झुर्रियाँ, सिलवट; वल्गु—अत्यन्त सुन्दर; दल—वटवृक्ष की पत्ती के समान; उदरः—पेट; आवर्त—कुण्डलीदार; नाभिः—नाभि; ओजस्वी—प्रकाशयुक्त; काञ्चन—सुनहली; उरुः—जाँघें; उदग्र-पात्—उभरे हुए पंजे।

महाराज पृथु की छाती चौड़ी थी, उनकी कमर अत्यन्त स्थूल तथा उनका उदर बल पड़े हुए होने के कारण वट वृक्ष की पत्तियों की रचना के समान लग रहा था। उनकी नाभि भँवर जैसी तथा गहरी, उनकी जाँघें सुनहरे रंग की तथा उनके पंजे उभरे हुए थे।

सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः ।  
महाधने दुकूलाछये परिधायोपवीय च ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सूक्ष्म—अत्यन्त महीन; वक्र—घुँघराले; असित—काले; स्निग्ध—चिकने; मूर्धजः—सिर के बाल; कम्बु—शंख सदृश;  
कन्धरः—गला; महा-धने—अत्यन्त मूल्यवान्; दुकूल-अछये—धोती पहने; परिधाय—शरीर के ऊपरी भाग में; उपवीय—जनेऊ  
के समान रखा हुआ; च—भी ।

उनके सिर के काले तथा चिकने बाल अत्यन्त सुन्दर तथा घुँघराले थे और शंख जैसी गरदन  
शुभ रेखाओं से अलंकृत थी। वे अत्यन्त मूल्यवान् धोती पहने थे और शरीर के ऊपरी भाग में  
सुन्दर सी चादर ओढ़े थे।

व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः ।  
कृष्णाजिनधरः श्रीमान्कुशपाणिः कृतोचितः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

व्यञ्जित—सूचित; अशेष—असंख्य; गात्र—शारीरिक; श्रीः—शोभा; नियमे—नियमित; न्यस्त—त्यक्त; भूषणः—वस्त्र;  
कृष्ण—काला; अजिन—चमड़ी; धरः—धारण किये; श्रीमान्—सुन्दर; कुश-पाणिः—उँगलियों में कुश धारण किये; कृत—  
सम्पन्न किया; उचितः—वाञ्छित ।

चूँकि महाराज को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए दीक्षित किया जा रहा था, अतः उन्हें अपने  
बहुमूल्य वस्त्र उतारने पड़े थे, जिससे उनका प्राकृतिक शारीरिक सौन्दर्य दृष्टिगोचर हो रहा था।  
उन्हें काला मृग चर्म पहने तथा उँगली में कुश-वल्लय ( पैती ) पहने देखकर अच्छा लग रहा था,  
क्योंकि इससे उनकी शारीरिक कान्ति बढ़ गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ के पूर्व महाराज  
पृथु समस्त विधि-सम्मत कृत्य सम्पन्न कर चुके थे।

शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत समन्ततः ।  
ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शिशिर—ओस; स्निग्ध—गीला; तारा—नक्षत्र; अक्षः—आँखें; समैक्षत—देखा; समन्ततः—चारों ओर; ऊचिवान्—बोलने  
लगा; इदम्—यह; उर्वीशः—अत्यन्त सम्मान्य; सदः—सदस्यों के मध्य; संहर्षयन्—उनकी प्रसन्नता को बढ़ाते हुए; इव—मानो ।

सभा के सदस्यों को प्रोत्साहित करने तथा उनकी प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए राजा पृथु ने,  
ओस से नम आकाश में तारों के समान नेत्रों से, उन पर दृष्टि फेरी और फिर गम्भीर वाणी में  
उनसे कहा ।

चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविकलवम् ।  
सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥ २० ॥

### शब्दार्थ

चारु—सुन्दर; चित्र-पदम्—अलंकारिक; श्लक्ष्णम्—अत्यन्त स्पष्ट; मृष्टम्—महान्; गूढम्—सार्थक; अविकलवम्—निःशंक;  
सर्वेषाम्—सबों को; उपकार-अर्थम्—लाभ पहुँचाने के लिए; तदा—उस समय; अनुवदन्—दुहराने लगा; इव—समान ।

महाराज पृथु की वाणी अत्यन्त सुन्दर, आलंकारिक भाषा से युक्त, सुस्पष्ट तथा श्रुतिमधुर थी। उनके शब्द अत्यन्त गम्भीर तथा अर्थवान् थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे बोलते समय परम सत्य सम्बन्धी अपनी निजी अनुभूति व्यक्त कर रहे थे जिससे वहाँ पर उपस्थित सभी लोग लाभ उठा सकें।

तात्पर्य : महाराज पृथु की बाह्य शारीरिक बनावट अत्यन्त सुन्दर थी और उनकी वाणी भी सभी प्रकार से ओजस्वी थी। उनके शब्द आलंकारिक भाषा से युक्त होने से सुनने में मधुर, विनम्र तथा सुस्पष्ट और किसी प्रकार की शंका या दुविधा से रहित थे।

### राजोवाच

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।  
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥ २१ ॥

### शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; सभ्याः—हे देवियों और सज्जनों; शृणुत—कृपा करके सुनिये; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम्हारा;  
साधवः—समस्त महापुरुष; ये—जो; इह—यहाँ; आगताः—उपस्थित; सत्सु—भद्र पुरुषों के प्रति; जिज्ञासुभिः—जानने के इच्छुक; धर्मम्—धार्मिक नियम; आवेद्यम्—निवेदन करे; स्व-मनीषितम्—अपना-अपना निश्चय ।

राजा पृथु ने कहा : हे सभासदो, आप सब का कल्याण हो। जितने भी महापुरुष इस सभा में उपस्थित हुए हैं, वे मेरी प्रार्थना को ध्यानपूर्वक सुनें। जो भी व्यक्ति वास्तव में कुछ जानने का इच्छुक हो वह भद्र-जनों की इस सभा के समक्ष अपना निश्चय प्रस्तुत करे।

तात्पर्य : प्रस्तुत श्लोक में साधवः (समस्त महापुरुष) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब कोई व्यक्ति महान् एवं विख्यात होता है, तो अनेक दुर्जन उसके शत्रु बन जाते हैं, क्योंकि भौतिकतावादियों का स्वभाव ईर्ष्या करना है। किसी भी सभा में कई प्रकार के लोग रहते हैं, अतः महाराज पृथु की सभा में भी अनेक शत्रु उपस्थित रहे होंगे, भले ही वे अपने आपको व्यक्त न कर सकें। किन्तु महाराज पृथु को ऐसे लोगों की चिन्ता थी जो भद्र थे, अतः सर्वप्रथम उन्होंने समस्त भद्र पुरुषों को सम्बोधित किया; उन्होंने ईर्ष्यालु व्यक्तियों की परवाह नहीं की। फिर भी उन्होंने अपने को राजा के रूप में प्रस्तुत नहीं

किया, क्योंकि वे ऋषियों तथा साधु पुरुषों की सभा के समक्ष अत्यन्त विनीत भाव से अपने विचार प्रस्तुत करना चाह रहे थे। विश्व सम्राट होने के कारण वे उन्हें आज्ञा दे सकते थे, किन्तु वे इतने विनीत तथा ईमानदार थे कि उन्होंने अपने प्रौढ़ निश्चय को स्पष्ट करने के लिए सर्व स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया। इस जगत का प्रत्येक प्राणी गुणों से बद्ध होने के कारण चार अवगुणों से युक्त रहता है। यद्यपि पृथु महाराज इन सबसे ऊपर थे, तो भी उन्होंने सामान्य बद्धजीव के समान अपने विचार वहाँ पर उपस्थित ऋषियों, मुनियों तथा महापुरुषों के समक्ष रखे।

अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।

रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

अहम्—मैं; दण्ड-धरः—राजदण्ड धारण करने वाला; राजा—राजा; प्रजानाम्—प्रजा का; इह—इस संसार में; योजितः—तत्पर; रक्षिता—रक्षक; वृत्ति-दः—आजीविका देने वाला; स्वेषु—अपने आप में; सेतुषु—अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं ( मर्यादा ) में; स्थापिता—स्थापित; पृथक्—अलग-अलग।

राजा पृथु ने आगे कहा : भगवत्कृपा से मैं इस लोक का राजा नियुक्त हुआ हूँ और मैं प्रजा के ऊपर शासन करने, उसे विपत्ति से बचाने तथा वैदिक आदेश से स्थापित सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक की स्थिति के अनुसार उसे आजीविका प्रदान करने के लिए यह राजदण्ड धारण कर रहा हूँ।

**तात्पर्य :** यह माना जाता है कि राजा की नियुक्ति भगवान् द्वारा अपने लोक विशेष के हित की रक्षा के लिए की जाती है। प्रत्येक लोक में एक अधिष्ठाता व्यक्ति होता है, जिस प्रकार आजकल प्रत्येक देश का एक राष्ट्रपति होता है। यदि कोई राष्ट्रपति या राजा बनता है, तो यह समझना चाहिए कि उसे यह सुअवसर ईश्वर-प्रदत्त है। वैदिक पद्धति के अनुसार राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर प्रजा द्वारा उसका मानव रूपी ईश्वर के ही समान आदर किया जाता है। वास्तव में वैदिक आदेशों के अनुसार परमेश्वर समस्त जीवात्माओं का और विशेष रूप से मनुष्यों का पालन करता है, जिससे वे उच्चतम पद प्राप्त करें। निम्न योनियों में अनेक जन्म लेते रहने के बाद जब जीवात्मा को मनुष्य योनि प्राप्त होती है विशेष रूप से सभ्य जीवन का तो समाज चार श्रेणियों में बँट जाता है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है ( *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्* )। ये चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र समाज के प्राकृतिक वर्ण हैं और जैसाकि पृथु महाराज ने घोषणा की कि प्रत्येक वर्ण के प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन

का उपयुक्त साधन प्राप्त होना चाहिए। राजा या सरकार का कर्तव्य है कि वह देखे कि लोग वर्णाश्रम धर्म का पालन करें तथा अपने-अपने व्यवसाय में लगे हों। आधुनिक समय में सरकारी या राजकीय संरक्षण प्राप्त न होने से सामाजिक व्यवस्था लगभग ढह गई है। किसी को भी ज्ञात नहीं है कि कौन ब्राह्मण है, कौन क्षत्रिय है, कौन वैश्य अथवा कौन शूद्र है। लोग अपने को जन्म से ही किसी वर्ण विशेष से सम्बद्ध बताते हैं। सरकार का कर्तव्य है कि वह वृत्तिपरक कार्यों तथा भौतिक प्रकृति के गुणों के अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था स्थापित करे जिससे सम्पूर्ण संसार सुसंस्कृत हो सके। यदि सरकार चार सामाजिक वर्णों का पालन नहीं करती तो मानव समाज पशु समाज के तुल्य है, जिसमें न शान्ति और न सम्पन्नता रहती है, केवल अशान्ति व्याप्त रहती है। आदर्श राजा के रूप में महाराज पृथु ने वैदिक सामाजिक व्यवस्था का दृढ़तापूर्वक पालन किया।

प्रजायते इति प्रजा। प्रजा शब्द का अर्थ है, जो जन्म लेता है, अतः पृथु राजा ने अपने राज्य में जन्मे सभी लोगों—प्रजानाम्—को सुरक्षा प्रदान की। प्रजा का अर्थ न केवल मनुष्य है, वरन् इसमें पशु, वृक्ष तथा अन्य सजीव प्राणी भी आते हैं। यह राजा का कर्तव्य है कि वह सभी को संरक्षण तथा भोजन प्रदान करे। आधुनिक समाज के मूर्ख तथा धूर्तजन सरकार के उत्तरदायित्व-क्षेत्र को नहीं जानते। पशु भी उस भूमि की प्रजा हैं जिसमें उनका जन्म होता है और उन्हें भी भगवान् के सहारे जीने का अधिकार प्राप्त है। पशुओं की बड़े पैमाने पर हत्या से पशुओं की जनसंख्या में गड़बड़ी होने के कारण कसाई, देश तथा सरकार का भविष्य संकट में पड़ जाएगा।

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः ।

लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

तस्य—उसका; मे—मेरा; तत्—उस; अनुष्ठानात्—सम्पन्न करने से; यान्—वह जो; आहुः—कहा जाता है; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक ज्ञान के वेत्ता; लोकाः—भूखंड; स्युः—होए; काम-सन्दोहाः—इच्छित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए; यस्य—जिसका; तुष्यति—संतुष्ट होता है; दिष्ट-दृक्—नियति का द्रष्टा।

महाराज पृथु ने कहा : मेरा विचार है कि राजा के कर्तव्य-पालन करने से मैं वैदिक ज्ञान के वेत्ताओं द्वारा वर्णित अभीष्ट उद्देश्य प्राप्त कर सकूंगा। यह गन्तव्य निश्चय ही भगवान् की प्रसन्नता से प्राप्त होता है, जो समस्त नियति का द्रष्टा है।

तात्पर्य : महाराज पृथु ने ब्रह्मवादिनः (वैदिक ज्ञान में दक्षजनों द्वारा) शब्द पर बल दिया है। ब्रह्म

वेदों का सूचक है, जिन्हें *शब्द-ब्रह्म* भी कहा जाता है। लिपिबद्ध सामान्य भाषा में लिखित होने पर भी सामान्य भाषा नहीं। वैदिक साहित्य के साक्ष्य को ही अन्तिम प्रमाण मानना चाहिए। वैदिक साहित्य में पर्याप्त जानकारी है, विशेषतः राजा के कर्तव्य पालन के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी प्राप्त है। जो राजा अपने लोक के समस्त प्राणियों को सुरक्षा प्रदान करते हुए अपने निर्धारित कर्तव्य निबाहता है, वह स्वर्गलोक का भागी होता है। यह सब परमेश्वर की प्रसन्नता पर भी निर्भर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि कोई अपना कर्तव्य भली-भाँति निबाहता है, तो वह स्वतः स्वर्गलोक चला जाएगा, यह तो परमेश्वर के प्रसन्न होने पर निर्भर करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वर को प्रसन्न करने पर मनुष्य को अपने कार्यों का वांछित फल प्राप्त होता है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी इसकी पुष्टि हुई है—

*अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।*

*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥*

नियत कार्यों का ठीक से सम्पादन ही परमेश्वर की परम तुष्टि है। *काम-सन्दोहा* शब्द का अर्थ है, “वांछित फल की प्राप्ति।” प्रत्येक प्राणी जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु आधुनिक सभ्यता के महान् वैज्ञानिक सोचते हैं कि मनुष्य जीवन की कोई योजना नहीं है। यह निपट मूर्खता अत्यन्त घातक है और सभ्यता को अत्यन्त खतरनाक बनाती है। लोग प्रकृति के उन नियमों को नहीं जानते जो परमेश्वर के आदेश हैं। पकड़े नास्तिक होने के कारण उनका ईश्वर के अस्तित्व तथा उनके आदेशों पर कोई विश्वास नहीं होता, अतः वे यह नहीं जान पाते कि प्रकृति किस प्रकार कार्यशील है। आम जनता की, जिसमें तथाकथित वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सम्मिलित हैं, यह निरी मूर्खता जीवन को ऐसा भयावह बना देती है, जिससे लोग यह नहीं जान पाते कि वे जीवन में उन्नति कर रहे हैं अथवा नहीं। *श्रीमद्भागवत* (७.५.३०) के अनुसार वे संसार के गहनतम क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहे हैं—

*अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रम् ।* अतः दार्शनिकों, वैज्ञानिकों तथा सामान्य जनों को जीवन की नियति के विषय में सही ज्ञान प्रदान करने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन चलाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को इस आन्दोलन से लाभ उठाना चाहिए और यह सीखना चाहिए कि जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है।



य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।

प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

यः—जो कोई ( राजा या शासक ); उद्धरेत्—वसूल करते हैं; करम्—कर, टैक्स; राजा—राजा; प्रजाः—नागरिक; धर्मेषु—अपने-अपने कर्तव्यों में; अशिक्षयन्—उन्हें उनके कर्तव्यों की शिक्षा दिये बिना; प्रजानाम्—नागरिकों का; शमलम्—अपवित्र; भुङ्क्ते—भोगता है; भगम्—धन; च—भी; स्वम्—अपना; जहाति—त्यागता है; सः—वह राजा ।

कोई राजा जो अपनी प्रजा को वर्ण तथा आश्रम के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों को करने की शिक्षा न देकर उनसे केवल कर और उपकर वसूल करता है, उसे प्रजा द्वारा किये गये अपवित्र कार्यों के लिए दण्ड भोगना होता है। ऐसी अवनति के साथ ही राजा की अपनी सम्पदा भी जाती रहती है।

तात्पर्य : राजा, शासक या राष्ट्रपति को चाहिए कि अपना कर्तव्य निबाहे बिना केवल अपने पद पर बना न रहे। उसे अपने राज्य के अन्तर्गत लोगों को सिखाना चाहिए कि वर्ण तथा आश्रम धर्म का कैसे निर्वाह किया जाये। यदि राजा ऐसे आदेश देने में ढिलाई बरतता है और मात्र कर लगाने में ही सन्तुष्ट रहता है, तो जो इस संग्रहण कार्य में शरीक होते हैं यथा सभी सरकारी कर्मचारी तथा राज्य का प्रमुख, उन्हें जनता के अपवित्र कार्यों (पापकर्मों) का भागी होना पड़ता है। प्रकृति के नियम अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई किसी पापमय स्थान पर भोजन करता है, तो वह वहाँ पर घटित पाप के कर्मफल का भागी होता है (इसीलिए वैदिक प्रथा है कि गृहस्थ ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को उत्सव सम्पन्न करते समय अपने घर भोजन करने के लिए आमंत्रित करता है, क्योंकि ब्राह्मण और वैष्णव उसे पापकर्म से मुक्त करा सकते हैं, किन्तु कट्टर ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को चाहिए कि वे सभी जगहों के आमंत्रण स्वीकार न करें। हाँ, जिन भोजों में प्रसाद वितरित होता हो वहाँ जाने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है)। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं जिनका लोगों को ज्ञान नहीं होता, किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व-भर के लोगों के लाभार्थ इस वैदिक ज्ञान का वैज्ञानिक विधि से प्रचार कर रहा है।

तत्प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः ।

कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २५ ॥

#### शब्दार्थ

तत्—अतः; प्रजाः—हे प्रजागण; भर्तृ—स्वामी के; पिण्ड-अर्थम्—मृत्यु के पश्चात् कल्याण; स्व-अर्थम्—अपना हित; एव—निश्चय ही; अनसूयवः—बिना ईर्ष्या के; कुरुत—करो; अधोक्षज—भगवान्; धियः—उनका चिन्तन; तर्हि—अतः; मे—मुझ पर; अनुग्रहः—कृपा; कृतः—की गई।

पृथु महाराज ने आगे कहा : अतः प्रिय प्रजाजनों, तुम्हें अपने राजा की मृत्यु के बाद उसके कल्याण के लिए वर्ण तथा आश्रम की अपनी-अपनी स्थितियों के अनुसार अपने-अपने कर्तव्यों का उचित ढंग से पालन करना चाहिए और उस के साथ ही अपने हृदयों में भगवान् का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने से तुम अपने हितों की रक्षा कर सकोगे और अपने राजा की मृत्यु के उपरान्त उसके कल्याण के लिए अनुग्रह प्रदान कर सकोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अधोक्षज-धियः* शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं जिनका अर्थ है “कृष्णभावनामृत।” राजा तथा प्रजा दोनों को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए अन्यथा मृत्यु के बाद उन्हें निम्न योनियों में जाना होगा। उत्तरदायी सरकार को चाहिए कि सबों के लाभ हेतु कृष्णभावनामृत की शिक्षा दे। कृष्णभावनामृत के बिना राज्य अथवा नागरिक कोई भी जिम्मेदार नहीं बन सकते। अतः पृथु महाराज ने नागरिकों से विशेष रूप से अनुरोध किया कि वे कृष्णभावनाभावित हों और वे उन्हें यह सिखाने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे। कृष्णभावनामृत का सार *भगवद्गीता* (९.२७) में दिया हुआ है—

*यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।*

*यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥*

“तू जो भी कर्म करे, जो कुछ खाए, जो कुछ दान दे और जो भी तपस्या करे, वह सब कृष्णभावनामृत में करे या भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करे।” यदि सरकारी नौकरों समेत राज्य के सारे लोगों को आध्यात्मिक जीवन की विधि सिखला दी जाये तो यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के कठोर नियमों के द्वारा विभिन्न प्रकार से कड़ा से कड़ा दण्ड पा सकता है, किन्तु वे इनसे प्रभावित नहीं होंगे।

यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः ।

कर्तुः शास्त्रनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

यूयम्—यहाँ पर उपस्थित तुम सभी; तत्—उस; अनुमोदध्वम्—मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन करें; पितृ—पितृलोक से आने वाले लोग; देव—स्वर्ग से आने वाले लोग; ऋषयः—बड़े-बड़े मुनि तथा साधुपुरुष; अमलाः—पापकर्मों से निर्मल; कर्तुः—कर्ता; शास्तुः—आज्ञा देने वाला; अनुज्ञातुः—समर्थक का; तुल्यम्—समान; यत्—जो; प्रेत्य—मरकर; तत्—वह; फलम्—फल।

मैं समस्त शुद्ध अन्तःकरण वाले देवताओं, पितरों तथा साधुपुरुषों से प्रार्थना करता हूँ कि वे

मेरे प्रस्ताव का समर्थन करें, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् किसी भी कर्म का फल इसके कर्ता, आदेशकर्ता तथा समर्थक के द्वारा समान रूप से भोग्य होता है।

**तात्पर्य :** पृथु महाराज का शासन परिपूर्ण था, क्योंकि यह वैदिक आदेशों के अनुसार चलाया जा रहा था। पृथु महाराज पहले ही बता चुके हैं कि सरकार का मुख्य कर्तव्य यह देखना है कि सभी लोग अपना-अपना कर्तव्य निबाहें और कृष्णभावनामृत के पद तक ऊपर उठें। सरकार को इस तरह चलाया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतः कृष्णभावनाभावित हो सके। अतः राजा पृथु चाह रहे थे कि वे इसमें उनका सम्पूर्ण सहयोग दें, क्योंकि उनकी सहमति होने पर मृत्यु के पश्चात् उन्हें भी राजा के ही समान लाभ मिलेगा। यदि कुशल राजा होने के कारण पृथु महाराज को स्वर्ग की प्राप्ति हो तो उनको सहयोग देने वाली प्रजा भी उनके साथ ऊपर उठ सकेगी। चूँकि इस समय जो कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चलाया जा रहा है, वह शुद्ध, परिपूर्ण तथा प्रामाणिक है और पृथु महाराज के चरणचिह्नों का अनुसरण कर रहा है, अतः जो भी इस आन्दोलन में सहयोग देता है या इसके नियमों को स्वीकार करता है, उसे वही फल मिलेगा जो कृष्णभावनामृत का सक्रिय रूप से प्रचार करनेवाले कार्यकर्ताओं को मिलेगा।

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदहंसत्तमाः ।

इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः ॥ २७ ॥

#### शब्दार्थ

अस्ति—है; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; नाम—नामक; केषाञ्चित्—कुछ के मत से; अहंसत्तमाः—हे माननीय; इह—इस लोक में; अमुत्र—मृत्यु के बाद; च—भी; लक्ष्यन्ते—दृष्टिगोचर हैं; ज्योत्स्ना-वत्यः—शक्तिमान, सुन्दर; क्वचित्—कहीं कहीं; भुवः—शरीर।

माननीय देवियो तथा सज्जनो, शास्त्रों के प्रामाणिक कथनों के अनुसार कोई ऐसा परम अधिकारी होना चाहिए जो हमें अपने-अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार पुरस्कृत कर सके। अन्यथा इस जीवन में तथा मृत्यु के बाद के जीवन में कुछ लोग असामान्य सुन्दर तथा शक्तिमान क्योंकर हो सकते हैं ?

**तात्पर्य :** पृथु महाराज का अपने राज्य में शासन करने का एकमात्र उद्देश्य अपनी प्रजा को ईश्वर-चेतना के पद तक उठाना था। चूँकि यज्ञशाला में विशाल सभा एकत्र थी, अतः वहाँ विभिन्न प्रकार के लोग उपस्थित थे, किन्तु उनकी अभिरुचि उन लोगों से बातें करने में थी जो नास्तिक नहीं थे। पिछले श्लोकों में बताया जा चुका है कि पृथु महाराज ने नागरिकों को *अधोक्षज-धियः* अर्थात् कृष्ण

भावनाभावित बनने की सलाह दी थी और इस श्लोक में वे शास्त्रों का प्रमाण विशेष रूप से प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि उनका पिता कट्टर नास्तिक था, जो वेदों में वर्णित आदेशों का पालन नहीं करता था और जिसने समस्त यज्ञों को रोक रखा था जिससे सारे ब्राह्मण रूष्ट हो गये थे और उन्होंने उसको न केवल सिंहासनच्युत किया था, वरन् शाप देकर मार डाला था। नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। वे दैनन्दिन जीवन में जो भी घटनाएँ घटती हैं उन्हें भौतिक व्यवस्था तथा दैवयोग के कारण हुई मानते हैं। नास्तिक लोग प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के निरीश्वर सांख्य दर्शन में विश्वास करते हैं। वे केवल पदार्थ को मानते हैं और उनकी यह धारणा है कि मिश्रण की कतिपय परिस्थितियों में प्राण का उदय होता है, जो पुरुष रूप में प्रकट होता है, फिर पदार्थ तथा प्राण के संयोग से अनेक प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं। नास्तिक लोग वेदों के आदेशों की भी नहीं मानते। उनके अनुसार सभी वैदिक आदेश मात्र ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका जीवन में कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए पृथु महाराज ने सुझाव रखा कि नास्तिक लोग नास्तिकों के विचारों का ठोस खंडन इस आधार पर करेंगे कि श्रेष्ठबुद्धि की व्यवस्था के बिना अनेक प्रकार की सृष्टियाँ सम्भव नहीं हैं। नास्तिक लोग अस्पष्ट रूप से कहते हैं कि ये विभिन्न सृष्टियाँ संयोगवश बनती हैं; किन्तु नास्तिक लोग वेदों के आदेशों पर विश्वास करने के कारण वेदों के निर्देशानुसार ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

विष्णु पुराण में कहा गया है कि सारी की सारी वर्णाश्रम व्यवस्था भगवान् को प्रसन्न करने के लिए है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों या कि ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के कर्तव्यों के पालन हेतु बनाये गये विधि-विधान परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए बने हैं। यद्यपि सम्प्रति तथाकथित ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों ने मूल संस्कृति खो दी है, तो भी वे जन्म-अधिकार से अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होने का दावा करते हैं। पर वे यह मानने को तैयार नहीं कि ये सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्थाएँ भगवान् विष्णु की पूजा के लिए हैं। शंकराचार्य ने जो घातक मायावाद सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि ईश्वर निराकार है, वह वेदों के आदेशों से मेल नहीं खाता; इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने मायावादी चिन्तकों को भगवान् के विरुद्ध सबसे बड़ा अपराधी बतलाया है। वैदिक प्रणाली के अनुसार जो वेदों की आज्ञाएँ नहीं मानता वह नास्तिक है। जब भगवान् बुद्ध ने

अहिंसा के सिद्धान्त का उपदेश दिया तो उन्हें वेदों के प्रमाण को बाध्य होकर इनकार करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप वेद-अनुयायियों ने उन्हें नास्तिक मान लिया। यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु ने बौद्ध दर्शन के अनुयायियों को नास्तिक बतलाया, क्योंकि वे वेदों के प्रमाण का निषेध करते हैं, किन्तु वे शंकराचार्य मतानुयायियों को बौद्धों से अधिक घातक मानते थे, क्योंकि वे छलपूर्वक वेदों के प्रमाण को स्थापित करना चाहते थे, किन्तु वास्तव में वे बौद्धों के मायावादी दर्शन का अनुसरण करते थे। शंकरवादी दार्शनिकों का यह सिद्धान्त है कि हमें ईश्वर का स्वरूप कल्पित करना होता है, जो ईश्वर की सत्ता के निषेध से कहीं अधिक घातक होता है। नास्तिकों तथा मायावादियों द्वारा इस प्रकार से दार्शनिक सिद्धान्त बनाने के बावजूद कृष्णभावनामृत के अनुयायी भगवद्गीता में दिये गये आदेशों का दृढ़ता से पालन करते हैं, क्योंकि भगवद्गीता को वैदिक शास्त्र का सार माना जाता है। *भगवद्गीता* (१८.४६) में कहा गया है—

*यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।*

*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥*

“जिस परमेश्वर से सब प्राणियों का जन्म हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है, मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्म से उसे पूजकर सिद्धि प्राप्त करता है।” इससे सूचित होता है कि भगवान् प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत है जैसाकि वेदान्त सूत्र में कहा गया है ( *जन्माद्यस्य यतः* )। स्वयं भगवान् ने भी *भगवद्गीता* में पुष्टि की है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—“मैं प्रत्येक वस्तु का मूल हूँ।” भगवान् समस्त उद्भवों का मूल स्रोत है और उसी के साथ परमात्मा-रूप में वह सारी सृष्टि में फैला हुआ है, अतः परम सत्य तो भगवान् हैं और हर एक जीव अपना कर्तव्य करते हुए भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए है ( *स्व-कर्मणा तमभ्यर्च्य* )। महाराज पृथु इस सूत्र को जनता के बीच में प्रचारित करना चाहते थे।

मानव-सभ्यता की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि मनुष्य को विभिन्न वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगा रहकर इनके द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—नियत कर्तव्य को पूरा करते हुए यदि कोई भगवान् को केवल प्रसन्न कर लेता है, तो वह जीवन में सफल होता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण अर्जुन है। वह

क्षत्रिय था, उसका कर्तव्य लड़ना था। उसने नियत कर्तव्यों का पालन करते हुए परमेश्वर को तुष्ट किया। अतः वह परिपूर्ण (सिद्ध) हो गया। हर एक को इसी नियम का पालन करना चाहिए। जो नास्तिक ऐसा नहीं करते उनकी भर्त्सना *भगवद्गीता* (१६.१९) में इस प्रकार की गई है—*तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्*। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि जो व्यक्ति ईश्वर से द्वेष रखते हैं, वे अत्यन्त अधम तथा अत्यधिक उपद्रवी मनुष्य होते हैं। परमेश्वर के विधि-विधानों के अन्तर्गत ऐसे उपद्रवी मनुष्यों को संसार के गहनतम भाग में डाल दिया जाता है और वे असुरों से या नास्तिकों से जन्म लेते हैं। जन्म-जन्मांतर ऐसे असुर और भी नीचे जाते रहते हैं और अन्त में बाघों या अन्य हिंस्र पशुओं की योनि में जाते हैं। इस प्रकार उन्हें लाखों वर्षों तक कृष्णज्ञान के बिना अंधकार में रहना होता है।

भगवान् पुरुषोत्तम कहलाते हैं। वे अन्य जीवों की ही तरह होते हैं, किन्तु वे समस्त जीवों में श्रेष्ठ होते हैं या उनके नायक होते हैं। इसका उल्लेख वेदों में भी हुआ है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। वे समस्त नित्यों के प्रधान, समस्त जीवात्माओं के प्रधान और पूर्ण हैं। उन्हें अन्य जीवों के मामलों में हस्तक्षेप करके कोई लाभ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु सबों के पालक होने के कारण उन्हें अधिकार है कि वे उन्हें ऐसे स्तर पर ले आएँ कि सभी जीव सुखी रहें। पिता चाहता है कि उसके सभी पुत्र उसके निर्देशन में सुखी हों। इसी प्रकार भगवान् या कृष्ण या परमात्मा को अधिकार है कि वे सभी जीवों को सुखी देखें। इस संसार में रहते हुए, किसी के लिए सुखी रहने की संभावना नहीं है। पिता तथा पुत्र तो नित्य हैं, किन्तु यदि जीवात्मा आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण शाश्वत जीवन के पद को प्राप्त नहीं करता तो उसके सुख का प्रश्न ही नहीं होता, किन्तु उन्हें अधिकार है कि अच्छों तथा बुरों में वे भेद करें यद्यपि पुरुषोत्तम को सामान्य जीवों से कोई लाभ नहीं उठाना होता। सही मार्ग यही होना चाहिए कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म किये जाँय जैसाकि हम बता चुके हैं (*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*)। जीवात्मा चाहे जो भी कर्म करे, किन्तु यदि उसे सिद्धि चाहिए तो भगवान् को प्रसन्न करना होगा। अतः जो उन्हें प्रसन्न कर लेता है उसे जीवन की अच्छी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और जो अप्रसन्न रखता है, वह अवांछित स्थितियों में पड़ता है।

अतः यह निष्कर्ष निकला कि दो प्रकार के कर्म हैं—संसारी तथा यज्ञार्थ (*यज्ञार्थात्-कर्म*)। जो कर्म यज्ञ के लिए नहीं होता वह बन्धन का कारण बनता है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं*

*कर्मबन्धनः*—“विष्णु के यज्ञ हेतु कर्म करना होता है अन्यथा यह कर्म मनुष्य को भौतिक संसार के बन्धन में डालता है” ( *भगवद्गीता* ३.९)। यह कर्म बन्धन प्रकृति के कठोर नियमों के अनुसार प्रदान किया जाता है। यह भौतिक जीवन प्रकृति के द्वारा समुपस्थित अवरोधों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक संघर्ष होता है। असुर-गण इन अवरोधों पर विजय पाने के लिए सतत संघर्ष करते रहते हैं और प्रकृति की मोहमयी शक्ति से अज्ञानी जीवात्माएँ कठिन परिश्रम करती हैं और इसी को सुख मानती हैं। यह माया कहलाती है। कठिन जीवन-संघर्ष के कारण वे पुरुषोत्तम भगवान् की सत्ता को अस्वीकार कर देते हैं।

जीवात्माओं के कार्यों को नियमित रखने के लिए ईश्वर ने हमें संहिताएँ प्रदान की हैं जिस प्रकार राजा अपने राज्य में विधि-संहिताएँ जारी करता है और जो भी नियम भंग करता है, वह दण्डित होता है। इसी प्रकार भगवान् ने वेदों का अच्युत ज्ञान प्रदान किया है, जिसे मानव जीवन के चार प्रकार के दोष कलुषित नहीं कर पाते। ये हैं त्रुटि करना, मोहग्रस्त होना, ठगना तथा इन्द्रियों का अपूर्ण होना। यदि हम वेदों से निर्देश न लेकर मनमाने ढंग से कार्य करते हैं, तो हम ईश्वरी नियमों के द्वारा अवश्य दण्डित होंगे, क्योंकि ईश्वर चौरासी लाख योनियाँ प्रदान करता है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरीर के अनुसार ही भौतिक जीवन अथवा इन्द्रियतृप्ति की क्रिया चलती रहती है, फलतः कर्मों का विभाजन पाप तथा पुण्य के रूप में हुआ है। *भगवद्गीता* (७.२८) में स्पष्ट उल्लेख है—

*येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।*

*ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥*

“जिन्होंने पुण्यकर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।” भगवान् की प्रेमाभक्ति में इस प्रकार लगे रहने को *अक्षोक्षज धियः* कहते हैं जिसे राजा पृथु अपनी प्रजा द्वारा पालन किया जाना चाह रहे थे।

विभिन्न प्रकार के जीव संयोगवश तथा आवश्यकता के कारण नहीं उत्पन्न होते, ये तो जीवात्माओं के पाप तथा पुण्यकर्मों के अनुसार ईश्वर द्वारा निर्मित विभिन्न व्यवस्थाएँ होती हैं। पुण्यकर्म करके मनुष्य अच्छे राष्ट्र में, अच्छे परिवार में जन्म ले सकता है, सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकता है और अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकता है या धनी बन सकता है। अतएव हम देखते हैं कि विभिन्न देशों तथा लोकों में जीवन

स्तर, शारीरिक स्वरूप तथा शैक्षिक स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं और ये सब भगवान् द्वारा पाप या पुण्यकर्मों के अनुसार प्रदत्त हैं। अतः जीवन के विभिन्न प्रकार संयोगवश नहीं, अपितु पूर्वयोजना से विकसित होते हैं। यह योजना वेदों में वर्णित है। मनुष्य को चाहिए कि इस ज्ञान से लाभ उठाए और अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि जीवन के अन्त में, विशेष रूप से मनुष्य जीवन के अन्त समय, कृष्ण-चेतना का अभ्यास करते हुए भगवान् के धाम जा सके।

संयोग के सिद्धान्त की श्रेष्ठ व्याख्या वैदिक साहित्य में *अज्ञात-सुकृति* शब्दों में प्राप्त होती है, जिससे कर्ता के अनजाने किये गये पुण्यकर्मों का बोध होता है। किन्तु ये कर्म भी पूर्वनियोजित होते हैं। उदाहरणार्थ, कृष्ण सामान्य मनुष्य के रूप में आते हैं, वे चैतन्य महाप्रभु जैसे भक्त के रूप में आते हैं या फिर अपना प्रतिनिधि गुरु या शुद्ध भक्त के रूप में भेजते हैं। यह भी भगवान् द्वारा नियोजित कार्य होता है। वे प्रचार करने तथा शिक्षा देने आते हैं, अतः परमेश्वर के मायावश पुरुष को उनसे मिलने, बोलने तथा शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है और यदि किसी प्रकार से बद्धजीव ऐसे महापुरुषों की शरण में आता है और उनके घनिष्ठ सम्पर्क से कृष्णभक्त बन जाता है, तो वह भौतिक जीवन की परिस्थितियों से बच जाता है। अतः *भगवद्गीता* (१८.६६) में श्रीकृष्ण आदेश देते हैं—

*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।*

*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥*

“सब प्रकार के धर्मों को छोड़ो और मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पाप कर्मों से मुक्त कर दूँगा। डरो नहीं।” *सर्व पापेभ्यः* का अर्थ है “समस्त पापपूर्ण कार्यों से।” जो व्यक्ति शुद्ध भक्त, गुरु या पृथु महाराज जैसे भगवान् के प्रामाणिक अवतार की संगति का लाभ उठाकर ईश्वर की शरण में जाता है उसकी रक्षा कृष्ण करते हैं। तब उसका जीवन सफल हो जाता है।

*मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः ।*

*प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः ॥ २८ ॥*

*ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च ।*

*प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥ २९ ॥*

शब्दार्थ



मनोः—मनु (स्वायंभुव मनु) के; उत्तानपादस्य—ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद के; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज के; अपि—निश्चय ही; मही-पतेः—राजा के; प्रियव्रतस्य—ध्रुव महाराज के परिवार में प्रियव्रत के; राजर्षेः—राजर्षि का; अङ्गस्य—अङ्ग के; अस्मत्—मेरे; पितुः—पिता के; पितुः—पिता के; ईदृशानाम्—ऐसे महापुरुषों के; अथ—भी; अन्येषाम्—अन्यों के; अजस्य—परम अमर के; च—भी; भवस्य—जीवात्माओं के; च—भी; प्रह्लादस्य—महाराज प्रह्लाद के; बलेः—महाराज बलि के; च—भी; अपि—निश्चय ही; कृत्यम्—उनके द्वारा स्वीकार किया हुआ; अस्ति—है; गदा-भृता—गदा धारण करने वाले भगवान्।

इसकी पुष्टि न केवल वेदों के साक्ष्य से होती है, अपितु मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, प्रियव्रत तथा मेरे पितामह अंग एवं महाराज प्रह्लाद तथा बलि जैसे अन्य महापुरुषों तथा सामान्य व्यक्तियों के व्यक्तिगत आचरण द्वारा होती है। ये सभी आस्तिक थे और गदाधारी भगवान् के अस्तित्व में विश्वास करने वाले थे।

तात्पर्य : नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं कि मनुष्य को अपने कार्यों के सही मार्ग का निर्धारण साधु पुरुषों के चरणचिह्नों तथा किसी गुरु के पथप्रदर्शन में ज्ञानग्रंथों (शास्त्रों) के अनुसरण द्वारा करना चाहिए (साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य)। साधु पुरुष वैदिक आदेशों को प्रमाण मानकर तथा गुरु महापुरुषों के जीवन से उदाहरण देकर समुचित निर्देशन करता है। अपना जीवन सुधारने के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि यहाँ पर महाराज पृथु ने स्वायंभुव मनु से लेकर जिन अधिकारी महापुरुषों के नाम गिनाये हैं, उनके पदचिह्नों पर चला जाये। जीवन में सबसे सुरक्षित मार्ग यही है कि श्रीमद्भागवत में उल्लिखित महापुरुषों का अनुसरण किया जाये। ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, चारों कुमार, प्रह्लाद, बलि, यमराज, भीष्म, जनक, शुकदेव गोस्वामी तथा कपिल—ये सब महाजन हैं।

दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान्धर्मविमोहितान् ।  
वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥ ३० ॥

#### शब्दार्थ

दौहित्र-आदीन्—मेरे पिता वेन जैसे दौहित्र; ऋते—के अतिरिक्त; मृत्योः—मृत्यु के; शोच्यान्—शोचनीय; धर्म-विमोहितान्—धर्म के पथ पर मोहग्रस्त हुए; वर्ग—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष; स्वर्ग—स्वर्गलोक तक ऊपर उठना; अपवर्गाणाम्—भौतिक कल्मष से मुक्त; प्रायेण—प्रायः; एक—एक; आत्म्य—श्रीभगवान्; हेतुना—के कारण।

यद्यपि धर्म के पथ पर साक्षात् मृत्यु के दौहित्र तथा मेरे पिता वेन जैसे शोचनीय पुरुष मोहग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु ऊपर जिन समस्त महापुरुषों का उल्लेख हुआ है, वे यह स्वीकार करते हैं कि चतुर्वर्गों—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—का अथवा स्वर्ग के एकमात्र दाता पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं।

तात्पर्य : पृथु महाराज के पिता राजा वेन को ब्राह्मणों तथा साधुओं द्वारा तिरस्कृत होना पड़ा,

क्योंकि उसने भगवान् के अस्तित्व का निषेध करते हुए भगवान् को वैदिक यज्ञों द्वारा तुष्ट करने की विधि का बहिष्कार किया। दूसरे शब्दों में, वह नास्तिक था; उसका ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास न था और उसने अपने राज्य में वैदिक यज्ञों पर रोक लगा दी थी। पृथु महाराज ने वेन के चरित्र को शोचनीय कहा है, क्योंकि धार्मिक कृत्यों के सम्पन्न किये जाने के विषय में वह मूर्ख था। नास्तिकों का मत है कि धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष में सफलता पाने के लिए भगवान् की सत्ता स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार धर्म का उद्देश्य काल्पनिक ईश्वर की स्थापना है, जो मनुष्य को सच्चरित्र ईमानदार तथा न्यायप्रिय बनने के लिए प्रेरित करता है, जिससे सामाजिक व्यवस्था शान्ति के साथ चलती रहे। यही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि इस कार्य के लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सच्चरित्रता तथा नैतिकता के नियमों का अनुपालन पर्याप्त होगा। इसी प्रकार अच्छी-अच्छी योजनाएँ बनाकर यदि आर्थिक विकास के लिए श्रम किया जाये तो स्वतः आर्थिक उन्नति हो जाएगी। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति ईश्वर की कृपा के अधीन नहीं है, क्योंकि यदि कोई चाहे किसी भी साधन से प्रचुर धन अर्जित करता है, तो उसे इन्द्रियतृप्ति के अनेक अवसर प्राप्त होंगे। जहाँ तक मोक्ष का प्रश्न है उनका कथन है कि मोक्ष की बात करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि मरने के बाद सब कुछ समाप्त हो जाता है। किन्तु महाराज पृथु ने ऐसे नास्तिकों के प्रमाण को, जिनका अग्रणी, मृत्यु का दौहित्र तथा उनका पिता वेन था, नहीं स्वीकार किया। सामान्यतः पुत्री पिता के गुण अर्जित करती है और पुत्र अपनी माता के गुण पाता है। इस प्रकार मृत्यु की पुत्री सुनीथा को अपने पिता के सारे गुण मिले और वेन ने माता के गुणों को उत्तराधिकार में पाया। जो मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र के विधि-विधानों द्वारा नियंत्रित होता है उसके विचार भौतिक ही बने रहते हैं। चूँकि राजा वेन ऐसा ही व्यक्ति था, अतः वह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता था। आधुनिक सभ्यता राजा वेन के ही सिद्धान्तों को मानती है, किन्तु यदि हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो हमें भगवान् की सत्ता को मानना पड़ेगा। वैदिक साहित्य के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रदत्त विधि-संहिता ही धर्म है।

यदि कोई धर्म तथा नैतिकता के मामलों में परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो उसे बताना होगा कि एक ही नैतिक स्तर के दो व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न फल क्यों प्राप्त होते हैं। यह सामान्य रूप से देखा जाता है कि यदि दो व्यक्तियों की नैतिकता, ईमानदारी तथा सदाचार का स्तर

एक-सा हो तो भी उनके पद एक से नहीं होते। इसी तरह आर्थिक विकास के क्षेत्र में यह देखा जाता है कि यदि दो पुरुष समान रूप से अहर्निश श्रम करें तो भी परिणाम एक से नहीं होते। एक व्यक्ति बिना काम किये ऐश्वर्यवान् हो सकता है, जबकि दूसरा व्यक्ति कठिन श्रम करके भी पेटभर भोजन नहीं पाता। इसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति के विषय में भी है। कभी-कभी पर्याप्त भोजन होने पर भी किसी-किसी मनुष्य का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं रहता या वह अविवाहित ही रह जाता है, जबकि दूसरा मनुष्य आर्थिक स्थिति के ठीक न होते हुए भी इन्द्रियतृप्ति के अवसर प्राप्त करता रहता है। मनुष्य की अपेक्षा कूकर या शूकर जैसे पशुओं को भी इन्द्रियतृप्ति के अधिक अवसर प्राप्त होते रहते हैं। यदि हम मोक्ष को छोड़ दें और केवल जीवन की मूल आवश्यकताओं—धर्म, अर्थ तथा काम—पर विचार करें तो हम देखेंगे कि वे प्रत्येक के लिए एकसमान नहीं होतीं। अतः यह मानना ही होगा कि कोई-न-कोई ऐसा है, जो विभिन्न स्तरों को निश्चित करता है। कहने का तात्पर्य यह कि न केवल मोक्ष के लिए, अपितु इस जगत की सामान्य से सामान्य आवश्यकताओं के लिए भी मनुष्य को भगवान् पर निर्भर रहना होगा। अतः पृथु महाराज ने यह संकेत किया कि धनी माँ-बाप के होते हुए भी कभी-कभी उनकी सन्तानें सुखी नहीं रहतीं। इसी तरह कभी-कभी कुशल से कुशल डाक्टर द्वारा ओषधि दिये जाने पर रोगी मर जाता है। अथवा बड़ी-से-बड़ी नाव होते हुए भी मनुष्य डूब जाता है। इस तरह हम प्रकृति द्वारा उपस्थित बाधाओं के विरुद्ध संघर्ष कर सकते हैं, किन्तु हमें तब तक सफलता नहीं मिलती जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती।

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-

मशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।

सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती

यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यत्-पाद—जिनके चरणकमल की; सेवा—सेवा; अभिरुचिः—रुचि; तपस्विनाम्—कठिन तपस्या करने वाले व्यक्ति; अशेष—असंख्य; जन्म—जन्म; उपचितम्—ग्रहण करते हैं; मलम्—गन्दगी; धियः—मन; सद्यः—शीघ्र; क्षिणोति—नष्ट करता है; अन्वहम्—प्रतिदिन; एधती—बढ़ने वाली; सती—होते हुए; यथा—जिस प्रकार; पद-अङ्गुष्ठ—चरणकमलों के अङ्गूठे से; विनिःसृता—निकला; सरित्—जल।

भगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिए अभिरुचि होने से सन्तप्त मनुष्य अपने मन में असंख्य जन्मों से संचित मल को शीघ्र ही धो सकते हैं। जिस तरह भगवान् के चरणकमलों के

अंगूठों से निकलने वाला गंगा जल सब मलों को धो देता है, उसी प्रकार इस विधि से मन तुरन्त ही स्वच्छ हो जाता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिकता अथवा कृष्णचेतना का विकास होता है।

**तात्पर्य :** भारत में यह देखा जा सकता है कि जो नित्य गंगा स्नान करता है, वह प्रायः समस्त रोगों से मुक्त रहता है। कलकत्ता के एक अत्यन्त सम्मान्य ब्राह्मण ने कभी भी डाक्टर की ओषधि नहीं खाई। बीमार पड़ने पर वह केवल गंगा जल पीता था और थोड़े ही समय में अच्छा हो जाता था। गंगा की महिमा समस्त भारतवासियों को तथा हमें भी ज्ञात है। गंगा नदी कलकत्ता के निकट से होकर बहती है। कभी-कभी गंगा के जल में मल तथा आस-पास की फैक्ट्रियों की अन्य गंदी वस्तुएँ बहती रहती हैं, तो भी हजारों लोग गंगा जल में स्नान करते हैं और वे नितान्त स्वस्थ तथा आध्यात्मिक अभिरुचि वाले होते हैं। यह गंगा जल का प्रभाव है। गंगा की ऐसी महिमा है, क्योंकि यह भगवान् के चरणकमलों के अंगूठे से निकली हैं। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है या कृष्णभक्ति करता है, तो उसके असंख्य जन्मों से संचित सारे मल धुल जाते हैं। हमने देखा है कि ऐसे अनेक लोग जिनके विगत जीवन अत्यन्त कलुषित रहे हैं, कृष्णभक्ति ग्रहण करने के बाद उनके सारे कलुष धुल जाते हैं और आध्यात्मिक उन्नति बड़ी तेजी से होने लगती है। अतः पृथु महाराज उपदेश देते हैं कि परमेश्वर के आशीर्वाद के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं, चाहे वह तथाकथित धार्मिक, आर्थिक उन्नति हो या इन्द्रियतृप्ति। अतः मनुष्य को भगवान् की सेवा या कृष्णभक्ति करके तुरन्त पूर्ण मनुष्य बनना चाहिए, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है ( *क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति* )। एक जिम्मेदार राजा होने के कारण ही पृथु महाराज संस्तुति करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की शरण में जाये और इस प्रकार तुरन्त शुद्ध हो ले। श्रीकृष्ण भी *भगवद्गीता* में कहते हैं कि केवल उनकी सेवा करने से ही मनुष्यों के सारे पाप-कर्म फल दूर हो जाते हैं। जिस प्रकार उनकी शरण जाने पर श्रीकृष्ण किसी मनुष्य के समस्त पाप कर्मों के फल को दूर कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि भी है जो भगवान् की कृपा के रूप में कार्य करता है। शिष्य को दीक्षित करने के बाद उसके पापमय जीवन के समस्त कर्म-फलों को हर लेता है। इस प्रकार यदि शिष्य गुरु द्वारा बताए नियमों का पालन करता है, तो वह शुद्ध रहता है और भौतिक कल्मष से दूषित नहीं होता।

इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि गुरु को, जो सदैव श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि का कार्य करता है, शिष्य के सारे पापों को समाप्त करना होता है। कभी-कभी गुरु को अपने शिष्यों के पापों से अभिभूत हो कर स्वयं कष्ट उठाना पड़ता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने सलाह दी है कि अधिक शिष्य नहीं बनाये जाँय।

विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमा-

नसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।

यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्

न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

विनिर्धुत—विशेष रूप से धुला हुआ; अशेष—अनन्त; मनः-मलः—मानसिक चिन्तन अथवा मन का संचित मल; पुमान्—पुरुष; असङ्ग—ऊब कर; विज्ञान—वैज्ञानिक ढंग से; विशेष—विशेष रूप से; वीर्य-वान्—भक्तियोग से पुष्ट; यत्—जिसके; अङ्घ्रि—चरणकमल की; मूले—जड़ में; कृत-केतनः—शरण में जाकर; पुनः—फिर; न—कभी नहीं; संसृतिम्—संसार को; क्लेश-वहाम्—कष्टों से पूर्ण; प्रपद्यते—ग्रहण करता है।

जब भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण में आ जाता है, तो उसका सारा अज्ञान या कपोल कल्पनाएं धुल जाते हैं और उसमें वैराग्य प्रकट होने लगता है। यह तभी सम्भव है, जब वह भक्तियोग के अभ्यास से परिपुष्ट हो ले। एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेने पर भक्त कभी भी इस संसार में लौटना नहीं चाहता, जो तीन प्रकार के तापों (क्लेशों) से भरा हुआ है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में कहा है, भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण महामंत्र—का जप अथवा भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा मनुष्य का मन क्रमशः समस्त प्रकार के मल से स्वच्छ हो जाता है। अनन्तकाल से भौतिक संगति में रहने से हमारे मनो में कूड़े का अम्बार लग चुका है। इसका पूरा-पूरा प्रभाव तब देखने को मिलता है, जब जीवात्मा अपने को शरीर मान बैठता है और इस तरह देहात्मबुद्धि से वह प्रकृति के कठोर नियमों में बँधकर जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है। जब मनुष्य भक्तियोग द्वारा अपने को शक्तिशाली बना लेता है, तो उसके मन का यह भ्रम दूर हो जाता है और उसे इन्द्रियतृप्ति अथवा इस संसार के प्रति कोई रुचि नहीं रह जाती।

भक्ति का लक्षण है वैराग्य तथा ज्ञान। मनुष्य शरीर नहीं है, यह बोध ही ज्ञान है और वैराग्य का

अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के प्रति अरुचि। भव-बन्धन से विलग होने के ये दोनों मूल सिद्धान्त भक्तियोग के बल पर फलीभूत हो सकते हैं। इस प्रकार जब भक्त भगवान् के चरणकमलों की प्रेमा-भक्ति में स्थिर हो जाता है, तो शरीर-त्याग के बाद वह इस संसार में पुनः नहीं आता जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भगवान् द्वारा हुई है ( *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन* ) ।

इस श्लोक में आगत *विज्ञान* शब्द का विशेष महत्त्व है। जब मनुष्य अपने को शरीर नहीं मानता तो वह जो आध्यात्मिक अभिज्ञान प्राप्त करता है, वह ज्ञान है और इसी की व्याख्या *भगवद्गीता* में *ब्रह्म-भूत* के रूप में की गई है। भौतिक संसार की बद्ध अवस्था में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य अपनी भौतिक पहचान बनाये रखना चाहता है। भौतिक संसार तथा आध्यात्मिक संसार के अन्तर का बोध ही ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त करने अथवा ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त कर लेने पर अन्ततः भक्ति की प्राप्ति होती है, जिसमें मनुष्य को अपनी स्थिति तथा भगवान् की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। यहाँ पर यह बोध *विज्ञान-विशेष* के रूप में व्याख्यायित हुआ है। अतः भगवान् का कथन है कि मेरा ज्ञान ही *विज्ञान* है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य परमेश्वर के वैज्ञानिक ज्ञान से युक्त हो जाता है, तो उसका मोक्ष सुनिश्चित है। *भगवद्गीता* (९.२) में भक्ति के विज्ञान को *प्रत्यक्षावगमं धर्म्यम्* कहा गया है।

मनुष्य भक्तियोग के द्वारा आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रगति को प्रत्यक्ष देख सकता है। अन्य योगों जैसे कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा ध्यानयोग में वह अपनी उन्नति के विषय में सुनिश्चित नहीं हो पाता, किन्तु भक्तियोग में उसे उसी प्रकार अपनी उन्नति का पता चल जाता है, जिस प्रकार भोजन करने वाले को पता चल जाता है कि उसकी भूख तुष्ट हो गई। भोग तथा भौतिक संसार पर अधिकार करने की झूठी क्षुधा वासना तथा अज्ञान की प्रमुखता के कारण होती है। *भक्ति-योग* से इन दोनों में कमी आती है और मनुष्य सतोगुण में स्थित हो जाता है। इसको पार कर वह शुद्ध सत्त्व में पहुँच जाता है, जो भौतिक गुणों से क्लुषित नहीं होता। इस प्रकार स्थित होकर भक्त के सारे सन्देह जाते रहते हैं। उसे यह पता रहता है कि वह इस भौतिक जगत में फिर से नहीं लौटेगा।

तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभि-

मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।

अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं

यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—निश्चय ही; यूयम्—तुम समस्त नागरिक; भजत—पूजा करो; आत्म—अपना; वृत्तिभिः—वृत्तिपरक कार्य द्वारा; मनः—मन; वचः—वाणी; काय—शरीर; गुणैः—विशिष्ट गुणों द्वारा; स्व-कर्मभिः—अपने-अपने कर्मों से; अमायिनः—बिना हिचक; काम-दुघ—समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाले; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल की; यथा—जिस प्रकार; अधिकार—सामर्थ्य; अवसित-अर्थ—अपने हित के विषय में पूरी तरह आश्रित; सिद्धयः—तुष्टि।

पृथु महाराज ने अपने प्रजाजनों को उपदेश दिया : तुम सबों को अपने मन, वचन, देह तथा कर्मों के फल सहित सदैव खुले मन से भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। तुम सब अपनी सामर्थ्य तथा वृत्तिपरक कार्यों के अनुसार पूरे विश्वास तथा बिना हिचक के भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न रहो। तब निश्चय ही तुम्हें अपने-अपने जीवन-उद्देश्य प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होगी।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के अठारहवें अध्याय में कहा गया है—*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य*—मनुष्य को अपने वृत्तिपरक कार्यों द्वारा भगवान् की पूजा करनी होती है। इसमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है। अतः पृथु महाराज कहते हैं—*गुणैः स्वकर्मभिः*। इस पदांश की व्याख्या *भगवद्गीता* में इस प्रकार प्राप्त है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—“भगवान् द्वारा प्राकृतिक गुणों तथा उन गुणों के अन्तर्गत विशिष्ट कर्तव्यों के अनुसार चारों जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) बनाई गई।” जो व्यक्ति सतोगुणी होता है, वह निश्चित रूप से अन्यो की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होता है। अतः वह ब्राह्मण के कार्य—सत्य बोलना, इन्द्रियों का संयम, मन का संयम, स्वच्छता, सहिष्णुता, आत्मज्ञान तथा भक्ति का ज्ञान—कर सकता है। इस प्रकार यदि वह सच्चे ब्राह्मण की भाँति भगवान् की सेवा करता है, तो उसके जीवन का अन्तिम लक्ष्य पूरा हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रियों के कर्तव्य हैं नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना, दान देना, राजकाज में वैदिक व्यवस्था का पालन तथा यदि शत्रु आक्रमण कर दे तो निर्भीक होकर लड़ना। इस प्रकार एक क्षत्रिय अपने वृत्तिपरक कार्यों से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। इसी तरह वैश्य अपने वृत्तिपरक कर्मों को करता हुआ—अन्न उपजा कर, गौवों की सुरक्षा करके तथा अधिक कृषि उत्पादन होने पर आवश्यक व्यापार द्वारा—भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। चूँकि शूद्रों के अधिक बुद्धि नहीं होती, अतः उन्हें

सामाजिक जीवन के उच्चतर स्तरों की सेवा करने में श्रमिक की भाँति लगे रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य भगवान् को अपने मन, वचन, कर्म से प्रसन्न करना होना चाहिए। जिस प्रकार शरीर के चार विभाग हैं—सिर, हाथ, पेट तथा पाँव—उसी प्रकार मानव समाज भी मनुष्यों के भौतिक गुणों तथा वृत्तिपरक कर्मों के अनुसार चार श्रेणियों में बँटा हुआ है। इस तरह ब्राह्मणों को सिर का, क्षत्रियों को भुजाओं का, वैश्यों को पेट का तथा शूद्रों को पैरों का कार्य करना पड़ता है। जीवन के निर्दिष्ट कर्मों को करते समय न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। हाँ, इनमें उच्चतर तथा निम्नतर जैसे विभाग होते हैं, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र लक्ष्य होने से उनमें कोई अन्तर नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब ब्रह्मा, शिव तथा अन्य बड़े-बड़े देवता भगवान् की पूजा करते हैं, ऐसा माना जाता है तो फिर इस लोक का सामान्य व्यक्ति उनकी सेवा किस प्रकार कर सकता है? इसकी स्पष्ट व्याख्या पृथु महाराज ने *यथाधिकार* शब्द के प्रयोग द्वारा की है, जिसका अर्थ है “अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार।” यदि कोई निष्ठापूर्वक अपना कर्तव्य पूरा करे तो वही पर्याप्त होगा। उसे न तो ब्रह्मा बनने की आवश्यकता है न शिव, इन्द्र, चैतन्य या रामानुजाचार्य, जिनकी सामर्थ्य हम सबों से निश्चय ही बहुत अधिक है। यहाँ तक कि भौतिक गुणों के अनुसार जीवन के सबसे नीचे स्तर पर स्थित शूद्र भी वही सफलता प्राप्त कर सकता है। कोई भी व्यक्ति भक्ति में सफलता प्राप्त कर सकता है, यदि उसमें द्विधा न रहे। यहाँ यह बताया गया है कि मनुष्य को स्पष्ट वक्ता तथा खुले दिमाग वाला (*अमायिनः*) होना चाहिए। भक्ति में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवन के निम्न स्तर पर स्थित होना कोई अयोग्यता नहीं है। इसके लिए एकमात्र योग्यता है कि वह निष्कपट हो तथा उसमें हिचक न हो, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र। तब वह गुरु के निर्देशन में अपना वृत्तिपरक कर्म करता हुआ जीवन की उच्चतम सफलता प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् ने स्वयं पुष्टि की है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्*। चाहे कोई ब्राह्मण हो या कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा निचले दर्जे की स्त्री, इससे कोई अन्तर नहीं आता। यदि कोई शरीर, मन तथा बुद्धि से गम्भीरतापूर्वक भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो वह अवश्य ही भगवान् के धाम वापस जाता है। भगवान् के चरणकमलों को *कामदुष्पाङ्घ्रि पंकजम्* कहा गया है, क्योंकि वे प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा करने में समर्थ हैं। एक भक्त अपने इसी जीवन में सुखी रहता है, क्योंकि इस संसार



में हमारी तो अनेक आवश्यकताएँ हैं, किन्तु भक्त की सारी आवश्यकताएँ पूरी हुई रहती हैं और अन्त में जब वह शरीर त्यागता है, तो वह बिना किसी संदेह के भगवान् के धाम को वापस जाता है।

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः

पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।

सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभि-

र्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥ ३४ ॥

### शब्दार्थ

असौ— भगवान्; इह— इस संसार; अनेक— विभिन्न; गुणः— गुण; अगुणः— दिव्य; अध्वरः— यज्ञ; पृथक्-विध— किस्में; द्रव्य— भौतिक तत्त्व; गुण— अवयव; क्रिया— कार्य; उक्तिभिः— विभिन्न मंत्रों के उच्चारण से; सम्पद्यते— पूजा जाता है; अर्थ— हित; आशय— प्रयोजन; लिङ्ग— रूप; नामभिः— नाम से; विशुद्ध— कल्मषरहित; विज्ञान— विज्ञान; घनः— घनीभूत; स्व-रूपतः— अपने निजी रूप में।

भगवान् दिव्य हैं। वे इस भौतिक जगत द्वारा कलुषित नहीं होते। यद्यपि वे घनीभूत आत्मा हैं जिसमें कोई भौतिक विविधता नहीं है, किन्तु फिर भी बद्धजीव के लाभ हेतु वे विभिन्न भौतिक तत्त्वों, अनुष्ठानों तथा मंत्रों द्वारा यज्ञकर्ता के मनोरथों एवं उद्देश्यों के अनुसार विविध नामों से देवताओं को समर्पित होने वाले यज्ञों को स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : वेदों में भौतिक सम्पन्नता के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञों की संस्तुतियाँ की गई हैं। भगवद्गीता (३.१०) में इसकी पुष्टि की गई है कि ब्रह्मा ने मनुष्यों तथा देवताओं समेत समस्त जीवात्माओं को उत्पन्न किया और उन्हें अपनी-अपनी आकांक्षाओं के अनुसार यज्ञ करने का उपदेश दिया ( सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा )। इन्हें यज्ञ कहा गया है क्योंकि ये भगवान् विष्णु को तुष्ट करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ करने का उद्देश्य भौतिक लाभ की प्राप्ति है, किन्तु साथ ही इनका लक्ष्य परमेश्वर को प्रसन्न करना भी रहता है, अतः वेदों में ऐसे यज्ञों की संस्तुति की गई है। ऐसे कार्य कर्मकाण्ड कहलाते हैं और कर्मकाण्ड प्रकृति के तीन प्रकार के गुणों से संदूषित रहते हैं। सामान्य रूप से कर्मकाण्ड के अनुष्ठान रजोगुण में किये जाते हैं, किन्तु बद्धजीवों अर्थात् मनुष्यों तथा देवताओं दोनों को ही यज्ञ करने होते हैं, क्योंकि इनके बिना कोई सुखी नहीं रह सकता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि ये कर्मकाण्ड अनुष्ठान भले ही संदूषित हों, किन्तु इनमें कुछ-न-कुछ भक्ति रहती है, क्योंकि जब कभी यज्ञ किया जाता है भगवान् विष्णु को मध्यवर्ती स्थान प्रदान किया जाता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए

यत्किंचित प्रयास भी भक्ति है और यह अत्यन्त मूल्यवान है। रंचमात्र भी भक्ति अनुष्ठानों की भौतिक प्रकृति को शुद्ध बनाती है और भक्ति से ये अनुष्ठान धीरे-धीरे दिव्य रूप धारण कर लेते हैं। अतः यद्यपि ऐसे यज्ञ ऊपरी तौर पर से कर्मकाण्ड रहते हैं, किन्तु उनके फल दिव्य होते हैं। कुछ यज्ञ यथा सूर्ययज्ञ, इन्द्र-यज्ञ तथा चन्द्र-यज्ञ देवताओं के नाम पर सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु ये देवता भगवान् के शारीरिक अंग होते हैं। ये देवता कोई भी आहुति (भेंट) अपने निमित्त स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु वे भगवान् के लिए स्वीकार कर सकते हैं। यह वैसा ही है जैसाकि सरकारी कर वसूल करने वाला अपने लिए कर संग्रह न करके सरकार के लिए कर की वसूली कर सकता है। किसी भी यज्ञ को जो इस प्रकार के पूर्णज्ञान तथा बोध के साथ किया जाता है, *भगवद्गीता* में *ब्रह्मार्पणम्*—भगवान् को अर्पित यज्ञ—कहा गया है। चूँकि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई यज्ञों के फल को नहीं भोग सकता, इसलिए भगवान् का कहना है कि वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*)। इसी दृष्टि से यज्ञ सम्पन्न होने चाहिए। *भगवद्गीता* (४.२४) का कथन है—

*ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्मणो ब्रह्मणा हुतम्।*

*ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥*

“जो कृष्णभावना में पूर्णतया मग्न है, उस पुरुष के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है क्योंकि वह उन ब्रह्मरूप क्रियाओं के परायण रहता है, जिनमें ब्रह्म ही अग्निरूपी गति है और अर्पित हवि भी ब्रह्ममय है।” यज्ञकर्ता को सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेदों में वर्णित यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए हैं। *विष्णुराराध्यते पन्थाः* (*विष्णु पुराण* ३.८.९)। परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी किया जाये, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, उसे वास्तविक यज्ञ समझना चाहिए और ऐसे यज्ञों के करने से भवबन्धन से मुक्ति मिल जाती है। भवबन्धन से मुक्ति पाने की प्रत्यक्ष विधि भक्ति है, जो निम्नलिखित नौ प्रकार की होती है (*भागवत* ७.५.२३)—

*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।*

*अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥*

इस श्लोक में वर्णित नवधा भक्ति को *विशुद्धविज्ञानधनः* कहा गया है, अर्थात् भगवान् विष्णु के रूप में दिव्य ज्ञान को केन्द्रित करके भगवान् को प्रसन्न करना। परमेश्वर को प्रसन्न करने की सर्वोत्तम

विधि यही है। जो इस प्रत्यक्ष विधि को नहीं अपना पाता उसे विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की अप्रत्यक्ष विधि अर्थात् यज्ञ को अपनाना चाहिए। इसीलिए विष्णु को *यज्ञपति* कहा जाता है। *श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ( भागवत २.९.१५ )*।

परम पुरुषोत्तम भगवान् का गहन विज्ञान सर्वोच्च बिन्दुपर संकेद्रित है। उदाहरणार्थ, ओषधि विज्ञान कुछ वस्तुओं को ऊपर-ऊपर जानता है, किन्तु डाक्टर लोग ठीक से यह नहीं जानते कि शरीर के भीतर क्या हो रहा है। किन्तु श्रीकृष्ण हर वस्तु को विस्तार से जानते हैं, क्योंकि उनमें भौतिक विज्ञान का एक भी दोष नहीं है। भगवान् विशुद्ध विज्ञानघन हैं। अतः यद्यपि वे कर्मकाण्डीय यज्ञों को स्वीकार करते हैं, तो भी वे दिव्य पद पर बने रहते हैं। फलतः अनेक गुणों से भगवान् के बहुत से दिव्य गुणों का परिचय मिलता है, क्योंकि भौतिक गुणों से वे अप्रभावित रहते हैं। विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ या भौतिक तत्त्व क्रमशः आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत होते रहते हैं, क्योंकि अन्ततः भौतिक तथा आध्यात्मिक गुणों में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु परमात्मा से उद्भूत है। उत्तरोत्तर साक्षात्कार तथा शुद्धि की विधि से इसका बोध होता है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण ध्रुव महाराज हैं जिन्होंने भौतिक लाभ के लिए वन में जाकर ध्यान धारण किया, किन्तु अन्त में आध्यात्मिक रूप से इतने आगे बढ़ गये कि भौतिक लाभ के लिए उन्होंने किसी प्रकार के वर की चाह नहीं की। वे तो परमेश्वर की संगति से ही परम तुष्ट थे। *आशय* का अर्थ है 'संकल्प'। सामान्य रूप से बद्धजीव में भौतिक लाभ का संकल्प होता है, किन्तु जब यज्ञ के द्वारा भौतिक लाभ की आकांक्षाएँ तुष्ट हो जाती हैं, तो मनुष्य को उत्तरोत्तर आत्म-पद प्राप्त होता है। तब उसका जीवन पूर्ण हो जाता है। अतः *श्रीमद्भागवत ( २.३.१० )* में संस्तुति की गई है—

*अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।*

*तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

प्रत्येक प्राणी चाहे वह *अकाम* (भक्त), *सर्वकाम* (कर्मी) अथवा *मोक्षकाम* (ज्ञानी या योगी) हो, भक्ति की प्रत्यक्ष विधि द्वारा भगवान् की उपासना के लिए प्रोत्साहित होता है। इस प्रकार वह एक ही साथ भौतिक तथा आध्यात्मिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

प्रधानकालाशयधर्मसङ्ग्रहे

शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।

क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते

यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥ ३५ ॥

### शब्दार्थ

प्रधान—प्रकृति; काल—समय; आशय—अभिलाषा; धर्म—वृत्तिपरक कर्म; सङ्ग्रहे—समुच्चय में; शरीर—शरीर में; एषः—यह; प्रतिपद्य—स्वीकार करके; चेतनाम्—चेतना को; क्रिया—कार्य के; फलत्वेन—फल से; विभुः—भगवान्; विभाव्यते—प्रकट होती है; यथा—जिस प्रकार; अनलः—अग्नि; दारुषु—काष्ठ में; तद्-गुण-आत्मकः—आकार तथा गुण के अनुसार।

भगवान् सर्वव्यापी हैं, किन्तु वे प्रकृति, काल, अभिलाषा तथा वृत्तिपरक कर्मों के संयोग से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के शरीरों में भी प्रकट होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की चेतनाएँ विकसित होती हैं, जिस प्रकार विभिन्न आकार-प्रकार वाले काष्ठ खण्डों में एक सी ही अग्नि विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।

तात्पर्य : भगवान् प्रत्येक जीव के भीतर परमात्मा रूप में निरन्तर वास करते रहते हैं। प्रत्येक जीव प्रकृति द्वारा प्रदत्त भौतिक शरीर के अनुसार जागरूक होता है। भौतिक अवयव काल के वेग से सक्रिय होते हैं और इस तरह प्रकृति के तीन गुण प्रकट होते हैं। इन तीनों गुणों के साहचर्य से जीवात्मा एक विशेष प्रकार का शरीर विकसित करता है। पशु जीवन में तमोगुण इतना प्रधान रहता है कि परमात्मा का बोध नहीं हो पाता, यद्यपि वह पशु के हृदय में भी विद्यमान होता है, किन्तु मनुष्य जीवन में चेतना के विकसित होने के फलस्वरूप मनुष्य अपने कर्मों से ( क्रियाफलत्वेन ) तमो तथा रजो गुणों को लाँघ कर सतोगुण को प्राप्त कर सकता है। इसीलिए हर किसी व्यक्ति को यह सलाह दी जाती है कि वह आध्यात्मिक रूप से प्रगत व्यक्ति का संग करे। वेदों का ( मुण्डकोपनिषद् १.२.१२ ) आदेश है— तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्—जीवन की पूर्णता प्राप्त करने या जीवात्मा की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति समझने के लिए मनुष्य को गुरु के पास जाना चाहिए, गुरुमेवाभिगच्छेत्, यह तो अनिवार्य है। इसमें किसी प्रकार की छूट नहीं है। इसका भाव यही होता है कि मनुष्य को गुरु के पास जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की संगति से मनुष्य में भगवान् के प्रति चेतना जागृत होती रहती है। ऐसी चेतना की परम सिद्धि कृष्णभावनामृत कहलाती है। प्रकृति द्वारा दिए गए शरीर के अनुसार चेतना बनती है, जिस प्रकार की चेतना विकसित होती है उसी के अनुसार कार्य होते हैं और इन कार्यों की शुद्धता के अनुसार ही प्रत्येक हृदय में विद्यमान भगवान् का साक्षात्कार होता है। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त

उपयुक्त है। अग्नि वही रहती है, किन्तु ईंधन या काष्ठ के आकार के अनुसार अग्नि सीधी, मुड़ी, छोटी, बड़ी होती है।

चेतना के विकास के अनुसार ईश्वर-साक्षात्कार होता है। इसीलिए मनुष्य जीवन में विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करने की संस्तुति की जाती है, जिनका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग)। निसेनी की तरह योग की अनेक सीढ़ियाँ हैं जिनसे चढ़कर ऊपर तक पहुँचा जाता है और इन्हीं सीढ़ियों के स्तर के अनुसार व्यक्ति कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग या भक्तियोग में स्थित माना जाता है। निस्सन्देह, भगवान् के साक्षात्कार की निसेनी में सबसे ऊपरी सीढ़ी भक्तियोग की है। दूसरे शब्दों में, अपनी चेतना के विकास के अनुसार मनुष्य को अपनी आत्म-सत्ता का बोध होता है और इस प्रकार उसके पूर्णतया शुद्ध होने पर वह ब्रह्मानन्द में स्थित होता है, जो अनन्त है। अतः चैतन्य के रूप में भगवान् द्वारा प्रवर्तित संकीर्तन आन्दोलन सीधी तथा सरल विधि है, जिससे चेतना के विशुद्धरूप कृष्णभावनामृत तक पहुँचा जा सकता है, जिस पद पर भगवान् का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है। परमेश्वर के परम साक्षात्कार हेतु क्रमशः विभिन्न प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने के आदेश प्राप्त हैं, जिसकी पुष्टि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (४.११) में की है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*। भगवान् का साक्षात्कार मनुष्य द्वारा समर्पण के अनुपात में होता है। पूर्ण समर्पण तभी होता है, जब मनुष्य में पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यन्ते* (*भगवद्गीता* ७.१९)।

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं

हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम् ।

स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका

निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रताः ॥ ३६ ॥

#### शब्दार्थ

अहो—हे तुम सब; मम—मेरे; अमी—वे सब; वितरन्ति—बाँटते हुए; अनुग्रहम्—कृपा; हरिम्—भगवान्; गुरुम्—परम गुरु; यज्ञ-भुजाम्—यज्ञ की बलि ग्रहण करने के पात्र सभी देवता; अधीश्वरम्—परम स्वामी; स्व-धर्म—वृत्तिपरक कर्म के; योगेन—बल पर; यजन्ति—पूजा करते हैं; मामकाः—मेरे सम्बन्धी; निरन्तरम्—लगातार; क्षोणि-तले—पृथ्वी तल पर; दृढ-व्रताः—दृढ़ संकल्प के साथ।

भगवान् समस्त यज्ञों के फल के स्वामी तथा भोक्ता हैं। साथ ही वे परम गुरु भी हैं। इस भूतल के आप सभी नागरिक, जिनका मुझसे सम्बन्ध है और जो अपने कर्मों द्वारा भगवान् की

पूजा कर रहे हैं, मुझ पर परम अनुग्रह कर रहे हैं। अतः हे नागरिको, मैं तुम सबको धन्यवाद देता हूँ।

**तात्पर्य :** महाराज पृथु ने अपनी प्रजा को भक्ति करने का जो उपदेश दिया वह दो रूपों में समाप्त होता है। उन्होंने बारम्बार नवदीक्षितों को तो अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार भक्ति करने का उपदेश दिया है, किन्तु यहाँ पर वे उन भक्तों को विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं, जो पहले से समस्त यज्ञों के भोक्ता तथा अन्तर्यामी के रूप में परम गुरु परमेश्वर की भक्ति में लगे हुए हैं। यहाँ पर गुरु शब्द का विशेष रूप से उल्लेख है, जो परम पुरुष का चैत्य गुरु के रूप में संकेत करता है। परमात्मा रूप भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और वे प्रत्येक जीव को अपनी शरण में आने और भक्ति में संलग्न होने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। अतः वे आदि गुरु हैं। वे बद्धजीव को आन्तरिक तथा बाह्यरूप से सहायता करने के लिए स्वयं गुरु के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए यहाँ पर उन्हें गुरुम् कहा गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि पृथ्वी भर के सारे लोग महाराज पृथु की प्रजा थे। उनमें से अधिकांश वस्तुतः सभी भक्ति में लगे हुए थे। उन्होंने उन सबों को भक्ति करने तथा इस प्रकार उन पर अनुग्रह करने के लिए विनीत भाव से धन्यवाद दिया। दूसरे शब्दों में, जिस राज्य में प्रजा तथा राज्याध्यक्ष भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं, वहाँ वे एक दूसरे की सहायता करके लाभान्वित होते हैं।

मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभि-

स्तितिक्षया तपसा विद्यया च ।

देदीप्यमानेऽजितदेवतानां

कुले स्वयं राजकुलादिव्रजानाम् ॥ ३७ ॥

**शब्दार्थ**

मा—कभी मत करो; जातु—किसी भी समय; तेजः—परम शक्ति; प्रभवेत्—प्रकट करते हैं; महा—बड़ी; ऋद्धिभिः—ऐश्वर्य से; तितिक्षया—सहिष्णुता से; तपसा—तप से; विद्यया—शिक्षा द्वारा; च—भी; देदीप्यमाने—पहले से महिमामंडितों पर; अजित-देवतानाम्—वैष्णव अथवा भगवान् के भक्त के; कुले—समाज में; स्वयम्—व्यक्तिगत रूप से; राज-कुलात्—राज परिवार से बड़ा; द्विजानाम्—ब्राह्मणों का।

ब्राह्मण तथा वैष्णव अपनी सहिष्णुता, तपस्या, ज्ञान तथा शिक्षा जैसे गुणों के द्वारा स्वयं ही महिमामंडित होते हैं। इन दिव्य ऋद्धियों के कारण वैष्णव राजकुल से अधिक शक्तिशाली होते हैं। अतः यह सलाह दी जाती है कि राजकुल इन दोनों कुलों पर अपना शौर्य ( विक्रम ) प्रदर्शित न करें और उनको अपमानित करने से बचें।

**तात्पर्य :** पिछले श्लोक में पृथु महाराज ने राज्य के शासकों तथा नागरिकों के लिए भक्ति की महत्ता बताई है। अब वे बता रहे हैं कि भक्ति में क्रमशः किस प्रकार स्थिर हुआ जाये। श्रील रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवद्भक्ति की उपमा एक लता से दी थी। लता का तना कमजोर होता है, अतः उसे बढ़ने के लिए दूसरे वृक्ष के सहारे की आवश्यकता होती है और बढ़ते हुए पर्याप्त सुरक्षा की आवश्यकता होती है ताकि यह नष्ट न हो जाए। भक्ति रूपी लता को सुरक्षा प्रदान करने का उल्लेख करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णवों के चरणकमलों के प्रति अपराध से बचने पर विशेष बल दिया है। ऐसे अपराध *वैष्णव अपराध* कहलाते हैं। यदि कोई *वैष्णव अपराध* करता है, तो उसकी भक्ति-प्रगति रुक जाती है। चाहे कोई भक्ति में कितना ही अग्रसर हो, यदि वह किसी वैष्णव के प्रति अपराध करता है, तो उसकी सारी उन्नति चौपट हो जाती है। शास्त्रों में बताया गया है कि महान् योगी दुर्वासा मुनि ने वैष्णव अपराध किया था, फलस्वरूप अपराध से अपने को बचाने के लिए उन्हें एक वर्ष तक निरन्तर सारे ब्रह्माण्ड में, यहाँ तक कि वैकुण्ठलोक में भी भ्रमण करते रहना पड़ा। अन्त में जब वे वैकुण्ठ में भगवान् के पास पहुँचे तो भी सुरक्षा नहीं मिली। अतः वैष्णव के चरणों के प्रति अपराध न करने के लिए सतर्क रहना चाहिए। सबसे जघन्य वैष्णव अपराध *गुर्वपराध* है, जो गुरु के चरणों पर किया जाता है। भगवान् के पवित्र नाम का जप करते हुए *गुर्वपराध* अत्यन्त जघन्य माना जाता है। *गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्र निन्दनम्* (पद्म पुराण)। पवित्र नाम के जप के विपरीत जो दस अपराध किये जाते हैं उनमें प्रमुख अपराध हैं, गुरु की अवज्ञा तथा वैदिक साहित्य की निन्दा।

वैष्णव की अत्यन्त सरल परिभाषा श्री चैतन्य महाप्रभु ने दी है—जो किसी को तुरन्त भगवान् का स्मरण दिलाए, वह वैष्णव है। इस श्लोक में वैष्णव तथा ब्राह्मण दोनों का उल्लेख है। वैष्णव विद्वान् ब्राह्मण माना जाता है, अतः वह *ब्राह्मण-वैष्णव* या *ब्राह्मण-पंडित* कहलाता है। दूसरे शब्दों में, वैष्णव पहले से ब्राह्मण होता है, किन्तु ब्राह्मण के लिए आवश्यक नहीं कि वह शुद्ध वैष्णव हो। जब कोई व्यक्ति अपनी शुद्ध सत्ता को जान लेता है, *ब्रह्म जानाति*, तो वह तुरन्त *ब्राह्मण* बन जाता है। ब्राह्मण अवस्था में वह परम सत्य के विषय में निर्गुण दृष्टि रखता है, किन्तु जब ब्राह्मण भगवान् के सगुण रूप को जान लेता है, तो वह वैष्णव बन जाता है। वैष्णव ब्राह्मण से भी बढ़कर होता है। भौतिक रूप से मानव-समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च होता है, किन्तु वैष्णव ब्राह्मण से भी बड़ा होता है। ब्राह्मण

तथा वैष्णव दोनों ही आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होते हैं। *भगवद्गीता* में ब्राह्मण के गुण सत्यनिष्ठा, समता, इन्द्रिय-निग्रह, सहिष्णुता, सरलता, ब्रह्म-ज्ञान, शास्त्रों में दृढ़ विश्वास तथा जीवन में ब्राह्मण-गुणों का सम्प्रयोग बताये गये हैं। इन गुणों के अतिरिक्त जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करता है, तो वह वैष्णव बन जाता है। पृथु महाराज अपनी भक्ति-परायण प्रजा को ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के प्रति अपराध न करने के लिए सचेत करते हैं। उनके चरणकमलों के प्रति किये गये अपराध इतने विनाशकारी होते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के परिवार में जन्मे यदुवंशी तक उनके चरणों पर अपराध करने के कारण विनष्ट हो गये। भगवान् कभी भी ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों के प्रति अपराध को सहन नहीं कर सकते। कभी-कभी अपने अधिकारपूर्ण पदों के कारण राजकुमार अथवा सरकारी नौकर ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की उपेक्षा करते हैं, उन्हें यह पता नहीं रहता कि ऐसे अपराध के फलस्वरूप वे विनष्ट हो जाएँगे।

ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो

नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात् ।

अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो

जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

ब्रह्मण्य-देवः—ब्राह्मण संस्कृति का स्वामी; पुरुषः—परम पुरुष; पुरातनः—सबसे प्राचीन; नित्यम्—शाश्वत; हरिः—भगवान्; यत्—जिसका; चरण—चरणकमल; अभिवन्दनात्—पूजा के द्वारा; अवाप—प्राप्त किया; लक्ष्मीम्—ऐश्वर्य; अनपायिनीम्—निरन्तर; यशः—ख्याति; जगत्—विश्व का; पवित्रम्—पवित्र करने वाली; च—भी; महत्—महान्; तम—सर्वाधिक परम; अग्रणीः—सर्वोपरि प्रथम।

पुरातन, शाश्वत तथा समस्त महापुरुषों में अग्रणी भगवान् ने अपनी स्थिर ख्याति के ऐश्वर्य को ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की उपासना के द्वारा प्राप्त किया जो समग्र ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाला है।

तात्पर्य : यहाँ पर परम पुरुष को *ब्रह्मण्यदेव* कहा गया है। *ब्रह्मण्य ब्राह्मण*, वैष्णव अथवा ब्राह्मण संस्कृति का द्योतक है और देव का अर्थ है “पूज्य भगवान्!” अतः जब तक कोई वैष्णव के दिव्य पद पर या सतोगुण पद पर (ब्राह्मण के रूप में) नहीं होता, तब तक वह भगवान् को नहीं समझ सकता। रजो तथा तमो गुणों की निम्न अवस्थाओं में तो भगवान् को समझ पाना और भी कठिन होता है। अतः यहाँ पर भगवान् को ब्राह्मण तथा वैष्णव संस्कृति वाले व्यक्तियों द्वारा पूज्य अर्चा-विग्रह बताया गया



है।

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।

जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

( विष्णु पुराण १.१९.६५ )

भगवान् कृष्ण ब्राह्मण संस्कृति तथा गोवंश के आदि रक्षक हैं। इनको जाने तथा इनका सम्मान किये बिना ब्रह्मज्ञान समझ में नहीं आता और इस ज्ञान के बिना कोई भी कल्याणकारी कार्य या मानवतावादी प्रचार-कार्य सफल नहीं हो सकता। भगवान् पुरुष या परम भोक्ता होता है। वह भगवान् न केवल अवतार लेने पर भोगता है, वरन् शाश्वत ( *नित्यम्* ) अनादि काल ( *पुरातन* ) से वह ऐसा करता आ रहा है। *यच्चरणाभिवन्दनात्*—पृथु महाराज ने कहा कि भगवान् को यह शाश्वत ख्याति रूपी ऐश्वर्य ब्राह्मणों के चरणकमलों की निरन्तर पूजा से मिला है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् को भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। चूँकि वे निरन्तर परिपूर्ण रहते हैं, अतः उन्हें किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती। तो यह भी कहा जाता है कि उन्होंने यह ऐश्वर्य ब्राह्मणों के चरणकमलों की सेवा करके प्राप्त किया है। ये उनके आदर्श कार्य हैं। जब श्रीकृष्ण द्वारका में थे तो उन्होंने नारद के चरणकमलों पर अपना मस्तक रख कर उनका सम्मान किया था। जब विप्र सुदामा उनके घर आये, तो उन्होंने सुदामा के चरण धोये और अपनी शय्या में बैठाया। भगवान् होते हुए भी उन्होंने महाराज युधिष्ठिर तथा कुन्ती का आदर किया। भगवान् के ये आदर्श आचरण हम सबों को शिक्षा देने के लिए हैं। हमें उनके व्यक्तिगत आचरण से सीखना चाहिए कि किस प्रकार गौवों की रक्षा की जाये, किस प्रकार ब्राह्मणों के गुण विकसित किये जाँय और ब्राह्मणों तथा भक्तों का किस प्रकार आदर किया जाये। श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* ( ३.२१ ) में कहा है— *यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः*—महापुरुष जिस-जिस तरह आचरण करता है उसका अनुकरण लोग स्वतः ही करते हैं। भला भगवान् से बढ़कर महापुरुष अन्य कौन हो सकता है और किसका आचरण उनसे अधिक आदर्शमय हो सकता है? ऐसा नहीं है कि उन्हें भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए इन कर्मों को करने की आवश्यकता थी, अपितु संसार को आचरण सिखाने के लिए ये सारे कार्य सम्पन्न किये गये।

यहाँ पर भगवान् को *महत्-तम-अग्रणीः* कहा गया है। इस संसार में *महत्तम* अर्थात् महापुरुष तो

ब्रह्माजी तथा शिव हैं, किन्तु वे इनसे भी ऊपर हैं। *नारायणः परोऽव्यक्तात्*— भगवान् इस संसार में उत्पन्न की गई समस्त वस्तुओं से ऊपर दिव्य स्थिति में हैं। उनका ऐश्वर्य, धन, सौन्दर्य, ज्ञान, त्याग तथा ख्याति सभी *जगत्-पवित्रम्* अर्थात् सारे संसार को पवित्र करने वाले हैं। हम जितनी ही उनके ऐश्वर्य के विषय में बातें करते हैं, यह संसार उतना ही अधिक पवित्र होता जाता है। इस संसार में भौतिक व्यक्ति का ऐश्वर्य स्थिर नहीं है। जो आज धनी है, वह कल दरिद्र हो सकता है, जो आज विख्यात है, वही कल अप्रसिद्ध बन सकता है। भौतिक ऐश्वर्य कभी स्थिर नहीं रहता, किन्तु भगवान् के छहों ऐश्वर्य न केवल आध्यात्मिक जगत में वरन् इस भौतिक जगत में भी शाश्वत हैं। भगवान् कृष्ण का यश स्थिर है और उनके ज्ञानग्रन्थ *भगवद्गीता* का आज भी आदर होता है। भगवान् से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ शाश्वत हैं।

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्

विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः ।

तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः

सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; सेवया—सेवा से; अशेष—अपार; गुहा—आशयः—प्रत्येक के हृदय में वास; स्व-राट्—लेकिन फिर भी पूर्णतः स्वतंत्र; विप्र-प्रियः—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को प्यारे; तुष्यति—सन्तुष्ट होता है; कामम्—इच्छाओं का; ईश्वरः—भगवान्; तत्—उस; एव—निश्चय ही; तत्-धर्म-परैः—भगवान् के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए; विनीतैः—विनम्रता से; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के वंशज; निषेव्यताम्—उनकी सेवा में निरन्तर लगे रहकर।

अनन्त काल तक स्वतंत्र रहने वाले तथा प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् उन लोगों से अत्यधिक प्रसन्न रहते हैं, जो उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करते हैं और बिना किसी हिचक के ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के वंशजों की सेवा करते हैं, क्योंकि वे सदैव ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को परम प्रिय हैं और ये सदा ही उनको प्रिय हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् यह देखकर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं कि कोई उनके भक्त की सेवा करता है। पूर्ण होने के कारण उन्हें किसी की सेवा की आवश्यकता नहीं रहती, लेकिन इसमें तो हमारा ही हित है कि हम भगवान् की सभी प्रकार से सेवा करें। परम पुरुष के प्रति ऐसी सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, किन्तु ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा के द्वारा सम्भव है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—*छाडिया वैष्णव सेवा निस्तार पायेछे केबा* अर्थात् जब तक वैष्णवों तथा ब्राह्मणों की सेवा नहीं की जाती तब तक भवसागर से कोई छुटकारा नहीं है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का भी कहना

है—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः*—गुरु महाराज की इन्द्रियों को तुष्ट करके ही भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट किया जा सकता है। ऐसे आचरण का शास्त्रों में उल्लेख तो है ही, आचार्य भी इसका पालन करते हैं। पृथु महाराज ने अपनी प्रजा को भगवान् के आदर्श आचरण का अनुसरण करने तथा इस प्रकार ब्राह्मणों एवं वैष्णवों की सेवा में प्रवृत्त होने की सलाह दी।

पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः

प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम् ।

यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः

परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पुमान्—पुरुष; लभेत—प्राप्त कर सकता है; अनति-वेलम्—अविलम्ब; आत्मनः—अपनी आत्मा के; प्रसीदतः—प्रसन्न होने पर; अत्यन्त—अत्यधिक; शमम्—शान्ति; स्वतः—अपने आप; स्वयम्—स्वयं; यत्—जिसका; नित्य—नियमित; सम्बन्ध—सम्बन्ध; निषेवया—सेवा के बल पर; ततः—तत्पश्चात्; परम्—श्रेष्ठ; किम्—क्या; अत्र—यहाँ; अस्ति—है; मुखम्—मुख; हविः—घी; भुजाम्—पीने वाले।

ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की नियमित सेवा करते रहने से मनुष्य के हृदय का मैल दूर होता है और इस प्रकार परम शान्ति तथा भौतिक आसक्ति से मुक्ति मिलती है और वह सन्तुष्ट हो जाता है। इस संसार में ब्राह्मणों की सेवा से बढ़कर कोई सकाम कर्म नहीं, क्योंकि इससे देवता प्रसन्न होते हैं जिनके लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति की जाती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.६५) में कहा गया है—*प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते*। जब तक आत्मतुष्टि नहीं होती, इस संसार के दुखों से छुटकारा नहीं मिल पाता। अतः आत्मतुष्टि की पूर्णता प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करना अनिवार्य है। इसीलिए श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—

*ताँदैर चरण सेवि भक्त-सने वास ।*

*जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष ॥*

“मैं जन्म-जन्मांतर आचार्यों के चरणकमलों की सेवा करना तथा भक्तों की संगति में रहना चाहता हूँ।” भक्तों की संगति में रहकर तथा आचार्यों के आदेशों के पालन से ही आध्यात्मिक वातावरण बनाये रखा जा सकता है। गुरु ही सर्वोत्तम ब्राह्मण है। इस कलियुग में ब्राह्मण कुल की सेवा कर पाना अत्यन्त दुष्कर है। वराह पुराण के अनुसार सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कलियुग का लाभ उठाकर

असुरों ने ब्राह्मण कुल में जन्म ले लिया है—*राक्षसाः कलिम् आश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु ( वराह पुराण )*। दूसरे शब्दों में, इस युग में शास्त्रों तथा लोगों की अविद्या का लाभ उठाते हुए तथाकथित ब्राह्मण तथा गोस्वामी वंशानुगत अधिकार से अपने को ब्राह्मण तथा वैष्णव बताते हैं। ऐसे झूठे ब्राह्मण कुलों की सेवा करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह प्रामाणिक गुरु तथा उसके संगियों का आश्रय ग्रहण करे और उनकी सेवा करे, क्योंकि इससे नवदीक्षित को पूर्ण संतोष प्राप्त हो सकेगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भगवद्गीता* के श्लोक—(२.४१) *व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन*—की व्याख्या में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर द्वारा बताए गए भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करते हुए मनुष्य मुक्ति के दिव्य पद को शीघ्र प्राप्त हो सकता है जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है (*अत्यन्त शमम्*)।

*अनतिवेलम्* (अविलम्ब) शब्द का विशिष्ट प्रयोग सार्थक है, क्योंकि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करने मात्र से ही मुक्ति मिल सकती है। कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नारद मुनि स्वयं हैं। अपने पूर्वजन्म में वे दासी के पुत्र थे, किन्तु उन्हें उन्नत ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिससे अगले जन्म में वे न केवल मुक्त हो सके वरन् सम्पूर्ण वैष्णव शिष्य-परम्परा में वे परम गुरु के रूप में प्रसिद्ध हो सके। अतः वैदिक विधि में प्रथा के रूप में यह संस्तुति की जाती है कि किसी अनुष्ठान को सम्पन्न करने के बाद ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय।

अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः

श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः ।

न वै तथा चेतनया बहिष्कृते

हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः ॥ ४१ ॥

#### शब्दार्थ

अश्नाति—खाता है; अनन्तः—भगवान्; खलु—तो भी; तत्त्व-कोविदैः—परम सत्य को जानने वाले व्यक्ति; श्रद्धा—विश्वास; हुतम्—अग्नि में आहुतियाँ देना; यत्-मुखे—जिसका मुख; इज्य-नामभिः—विभिन्न देवताओं के नाम से; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; तथा—उसी तरह; चेतनया—जीवनी शक्ति से; बहिः-कृते—विलग किया जाकर; हुत-अशने—यज्ञ-अग्नि में; पारमहंस्य—भक्तों का; पर्यगुः—कभी भी बाहर नहीं जाता है।

यद्यपि भगवान् अनन्त विभिन्न देवताओं के नामों से अग्नि में अर्पित हवियों को खाते हैं, किन्तु वे अग्नि के माध्यम से खाने में उतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी कि विद्वान साधुओं तथा

भक्तों के मुख से भेंट को स्वीकार करने में, क्योंकि तब उन्हें भक्तों की संगति त्यागनी नहीं होती।

**तात्पर्य :** वैदिक आदेशों के अनुसार अग्नियज्ञ विभिन्न देवताओं के नामों पर भगवान् को भोजन प्रदान करने के लिए किया जाता है। अग्नियज्ञ करते समय मंत्रों में स्वाहा शब्द का उच्चारण किया जाता है, यथा—*इन्द्राय स्वाहा, आदित्याय स्वाहा*। ये मंत्र इन्द्र, आदित्य जैसे विभिन्न देवों के नाम पर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उच्चरित किये जाते हैं, क्योंकि भगवान् का कथन है—

*नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा।*

*तत्र तिष्ठामि नारद यत्र गायन्ति मद्भक्ताः ॥*

“न मैं वैकुण्ठ में हूँ न योगियों के हृदय में। मैं वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरी लीलाओं की महिमा का गान करते हैं।” यह समझना चाहिए कि भगवान् अपने भक्तों का साथ नहीं छोड़ते।

अग्नि जीवशून्य है, किन्तु भक्त तथा ब्राह्मण परमेश्वर के सजीव प्रतिनिधि हैं। अतः ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को खिलाने का अर्थ है, प्रत्यक्ष भगवान् को खिलाना। अतः यह निष्कर्ष निकला कि अग्नि में आहुति डालने की अपेक्षा मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मण तथा वैष्णवों को भोजन दे, क्योंकि यह विधि अग्नियज्ञ की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष उदाहरण अद्वैत प्रभु ने प्रस्तुत किया। जब उन्होंने अपने पिता का श्राद्ध उत्सव किया, तो सब से पहले उन्होंने हरिदास ठाकुर को बुलाकर उन्हें भोजन दिया। यह प्रथा है कि श्राद्ध कर्म के बाद किसी उच्च ब्राह्मण को भोजन दिया जाये, किन्तु अद्वैत प्रभु ने सबसे पहले हरिदास ठाकुर को भोजन दिया जिनका जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था। अतः हरिदास ठाकुर ने अद्वैत प्रभु से पूछा कि वे ऐसा कार्य क्यों कर रहे हैं जिससे ब्राह्मण-समाज में उनकी स्थिति बिगड़ जाये। अद्वैत प्रभु ने उत्तर दिया कि हरिदास ठाकुर को भोजन देकर वे लाखों उच्च कोटि के ब्राह्मणों को भोजन दे रहे हैं। वे इस बात के लिए किसी भी विद्वान् ब्राह्मण से बात करने के लिए तैयार थे और यह सिद्ध करना चाहते थे कि हरिदास ठाकुर जैसे शुद्ध भक्त को भोजन देकर वे उतना ही आशीष प्राप्त करते हैं जितना कि हजारों विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन कराने से। यज्ञ करते समय लोग आहुति डालते हैं, किन्तु यदि वैष्णवों को ये आहुतियाँ दी जाँय तो निश्चय ही वे अधिक प्रभावशाली होंगी।

यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं  
 श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।  
 समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये  
 यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥ ४२ ॥

### शब्दार्थ

यत्—जो; ब्रह्म—ब्राह्मण-संस्कृति; नित्यम्—शाश्वत रूप से; विरजम्—निष्कलंक; सनातनम्—अनादि; श्रद्धा—श्रद्धा;  
 तपः—तपस्या; मङ्गल—शुभ; मौन—मूक रहना; संयमैः—मन तथा इन्द्रियों को वश में करते हुए; समाधिना—पूर्ण मनोयोग से;  
 बिभ्रति—प्रकाशित करता है; ह—जैसे उसने किया; अर्थ—वेदों का असली प्रयोजन; दृष्टये—प्राप्त करने के उद्देश्य से; यत्र—  
 जिसमें; इदम्—यह सब; आदर्श—दर्पण में; इव—सदृश; अवभासते—प्रकट होता है।

ब्राह्मण-संस्कृति में ब्राह्मणों का दिव्य स्थान शाश्वत रूप से बनाए रखा जाता है, क्योंकि वेदों के आदेशों को श्रद्धा, तप, शास्त्रीय निर्णय, मन तथा इन्द्रिय-निग्रह एवं ध्यान के साथ स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार जीवन का वास्तविक लक्ष्य ठीक उसी तरह से प्रकाशमान हो उठता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में किसी का मुँह भली-भाँति प्रतिबिम्बित होता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया था कि एक जीवित ब्राह्मण को खिलाना अग्नि में आहुतियाँ डालने से अधिक प्रभावकारी है। अब इस श्लोक में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि ब्राह्मणत्व क्या है और ब्राह्मण कौन है। इस कलियुग में, इस तथ्य का लाभ उठाया जा रहा है कि ब्राह्मण भोजन कराना यज्ञों के करने से श्रेयस्कर है और इस तरह ऐसे लोग स्वयं को ब्राह्मण-भोजन के अधिकारी बताने लगे हैं, जो ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न हुए हैं, किन्तु उनमें ब्राह्मणों के एक भी गुण नहीं रहते। ऐसे व्यक्तियों तथा असली ब्राह्मणों में अन्तर करने के उद्देश्य से ही महाराज पृथु ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-संस्कृति का यथार्थ वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को प्रकाशहीन अग्नि की भाँति बन कर अपनी स्थिति का लाभ नहीं उठाना चाहिए। ब्राह्मण को वेदों के निर्णय की भली-भाँति जानकारी होनी चाहिए, जैसाकि भगवद्गीता (१५.१५) में कहा गया है—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—वैदिक निर्णय या वेदान्तज्ञान कृष्णज्ञान है। यह तथ्य है कि जिस रूप में श्रीकृष्ण हैं उसके जान लेने से मनुष्य पूर्ण ब्राह्मण हो जाता है, जैसाकि भगवद्गीता में उल्लिखित है (जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः)। जो ब्राह्मण श्रीकृष्ण को अच्छी तरह जान लेता है, वह सदैव दिव्य स्थिति में रहता है। इसकी पुष्टि भी भगवद्गीता (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्णरूप से मेरे अनन्य भक्तियोग के परायण है और किसी स्थिति में उससे डिगता नहीं, वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लंघन करके ब्रह्मभूत हो जाता है।”

अतः भगवान् कृष्ण का भक्त वास्तव में एक पूर्ण ब्राह्मण है। उसकी स्थिति दिव्य होती है, क्योंकि वह बद्धजीवन के चारों दोषों से मुक्त होता है। ये दोष हैं—त्रुटि करना, मोहग्रस्त होना, धोखा देना तथा अपूर्ण इन्द्रियों वाला होना। पूर्ण वैष्णव या कृष्णभक्त सदैव दिव्य स्थिति में रहता है, क्योंकि वह कृष्ण तथा उसके प्रतिनिधि के रूप में बोलता है। चूँकि वैष्णव लोग श्रीकृष्ण के ही स्वर में बोलते हैं, अतः वे जो कुछ भी कहते हैं, वह चारों दोषों से रहित होता है। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि उन्हीं का चिन्तन करे, उन्हीं का भक्त बने, उन्हीं को नमस्कार और उन्हीं की पूजा करे और अन्त में उन्हीं की शरण में जाये। ये भक्तिकर्म दिव्य हैं और चारों दोषों से रहित हैं। अतः जो भी भगवान् कृष्ण का एकनिष्ठ भक्त है और इस सम्प्रदाय का प्रचार श्रीकृष्ण के आदेशों के ही अनुसार करता है, वह *विरजम्* होता है। अतः असली ब्राह्मण या वैष्णव वेदों के निर्णय पर या भगवान् द्वारा दिये गये वैदिक ज्ञान पर निर्भर रहता है। केवल वैदिक ज्ञान से हम परम सत्य की वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं, जो *श्रीमद्भागवत* के अनुसार तीन रूपों में प्रकट होता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। यह ज्ञान सनातन काल से सम्पूर्ण माना जा रहा है और ब्राह्मण या वैष्णव-संस्कृति इसी सिद्धान्त पर आश्रित रही है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वेदों का अध्ययन न केवल ज्ञानार्जन के लिए करे, वरन् इस ज्ञान तथा इन कार्यकलापों को भगवान् तथा वेदों के ही शब्दों में श्रद्धासहित फैलाने के लिए करे।

इस श्लोक का *मङ्गल* (शुभ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उद्धरण दिया है कि जो उत्तम है, उसे करना और जो उत्तम न हो, उसका त्याग करना *मङ्गल* या शुभ है। उत्तम कार्य करने का अर्थ है, जो कुछ भी भक्ति करने के अनुकूल हो उसे स्वीकार करना और उसके त्यागने का अर्थ है कि भक्ति करने में जो प्रतिकूल हो उसे अस्वीकार करना। हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए चार निषिद्धों—अवैध विषयी जीवन, मादक द्रव्य-सेवन, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार का बहिष्कार करते हैं और प्रतिदिन कम से कम सोलह बार हरे कृष्ण महामंत्र का

जाप और तीन बार गायत्री मंत्र का जाप करते हुए ध्यान में लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य ब्राह्मण संस्कृति और आध्यात्मिक शक्ति को अखण्डित बनाये रख सकता है। यदि कोई भक्ति के इन नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए चौबीसों घण्टे हरे कृष्ण महामंत्र का जाप करता है, तो वह आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होकर अन्ततः भगवान् के साक्षात् दर्शन करने के लिए पूर्ण रूप से योग्य हो जाता है। चूँकि वैदिक ज्ञान के अध्ययन करने या जानने का एकमात्र परम उद्देश्य श्रीकृष्ण को प्राप्त करना है, अतः जो प्रारम्भ से ही उपर्युक्त विधि से वैदिक नियमों का पालन करता है, वह परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण स्वरूप को उसी प्रकार स्पष्ट रूप से देख सकता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने मुख को देखा जा सकता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि कोई ब्राह्मण इसलिए ब्राह्मण नहीं बन जाता कि वह जीवात्मा है या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है, अपितु उसमें शास्त्रों में निर्दिष्ट समस्त गुण होने चाहिए और उसे अपने जीवन में ब्राह्मण-नियमों का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार वह अन्ततः पूर्ण रूप से कृष्णभक्त बन जाता है और यह समझ सकता है कि कृष्ण क्या हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में इसका निम्नलिखित वर्णन मिलता है कि भक्त किस प्रकार अपने हृदय के भीतर श्रीकृष्ण को अपने समक्ष देखता रहता है—

*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*

*सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।*

*यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥*

कृष्ण का शुद्ध प्रेम विकसित होने से भक्त श्यामसुन्दर भगवान् का अपने हृदय में निरन्तर दर्शन करता रहता है। ब्राह्मण-संस्कृति की यह परिपूर्ण अवस्था है।

तेषामहं पादसरोजरेणु-

मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः ।

यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं

नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ



तेषाम्—उन सबके; अहम्—मैं; पाद—पाँव; सरोज—कमल; रेणुम्—धूलि; आर्याः—हे श्रेष्ठ व्यक्तियो; वहेय—धारण करूँगा; अधि—तक; किरीटम्—मुकुट; आयुः—जीवन भर; यम्—जिसको; नित्यदा—सदैव; बिभ्रतः—लेते हुए; आशु—शीघ्र ही; पापम्—पापकर्म; नश्यति—नष्ट हो जाते हैं; अमुम्—वे सब; सर्व-गुणाः—अत्यन्त योग्य; भजन्ति—पूजा करते हैं।

यहाँ पर समुपस्थित हे आर्यगण, मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ कि मैं आजीवन अपने मुकुट में ऐसे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि धारण करता रहूँ। जो ऐसी चरण-धूलि धारण करता है, वह शीघ्र ही पापमय जीवन से उत्पन्न समस्त कर्मफलों से मुक्त हो जाता है और अंततः समस्त उत्तम तथा वांछित गुणों से परिपूर्ण हो जाता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि भगवान् पर जिसकी अटूट श्रद्धा होती है अर्थात् जो भगवान् के शुद्ध भक्त या वैष्णव में अटल श्रद्धा रखता है, उसमें देवताओं के सारे गुण आ जाते हैं। *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः* ( भागवत ५.१८.१२ )। प्रह्लाद महाराज ने भी कहा है—*नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिम्* ( भागवत ७.५.३२ )। जब तक विशुद्ध वैष्णव के चरणकमलों की रेणु को मस्तक पर धारण नहीं किया जाता तब तक भगवान् का ज्ञान नहीं होता और जब तक भगवान् का ज्ञान नहीं हो पाता यह जीवन अधूरा रहता है। ऐसा महापुरुष विरला ही है, जिसने भगवान् को पूरी तरह जान लेने के बाद तथा अनेकानेक जीवनो तक कठिन तपस्या करने के बाद अपने को उनमें पूर्णतः समर्पित कर दिया हो। राजा के सिर पर मुकुट भार ही होता है, यदि राजा ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि को उस पर धारण नहीं करता। दूसरे शब्दों में, यदि पृथु महाराज जैसा उदार राजा ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के आदेशों का अनुसरण नहीं करता अथवा ब्राह्मण-संस्कृति का पालन नहीं करता तो वह राज्य पर भारस्वरूप होता है क्योंकि वह प्रजा का कल्याण नहीं कर सकता। महाराज पृथु आदर्श शासक के एक उत्तम उदाहरण थे।

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं

वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः ।

प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च

जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

गुण-अयनम्—जिसने समस्त सद्गुण प्राप्त किये हैं; शील-धनम्—उत्तम आचरण ही जिसकी सम्पत्ति है; कृत-ज्ञम्—आभारी; वृद्ध-आश्रयम्—विद्वानों की शरण ग्रहण करने वाला; संवृणते—प्राप्त करता है; अनु—निश्चय ही; सम्पदः—समस्त ऐश्वर्य; प्रसीदताम्—प्रसन्न हों; ब्रह्म-कुलम्—ब्राह्मण वर्ग; गवाम्—गौएँ; च—तथा; जनार्दनः—भगवान्; स—सहित; अनुचरः—अपने भक्त; च—तथा; मह्यम्—मुझको।

जो कोई भी ब्राह्मणत्व के गुणों को अर्थात् सदाचार, कृतज्ञता तथा अनुभवी लोगों का आश्रय प्राप्त कर लेता है, उसे संसार का सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। अतः मेरी यही चाह है कि श्रीभगवान् अपने पार्षदों सहित ब्राह्मण कुल, गौओं तथा मुझ पर प्रसन्न रहें।

तात्पर्य : भगवान् की पूजा *नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च* स्तुति से की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भगवान् ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण-संस्कृति के साथ ही गौओं का सम्मान एवं परिपालन करते हैं। दूसरे शब्दों में, जहाँ कहीं भी ब्राह्मण तथा ब्राह्मण-संस्कृति होगी वहाँ गौएँ तथा उनका संरक्षण होगा। जिस समाज या संस्कृति में ब्राह्मण या ब्राह्मण संस्कृति नहीं होती वहाँ गौओं को सामान्य पशु समझ कर मानव सभ्यता का त्याग करके उनका वध कर दिया जाता है। पृथु महाराज द्वारा *गवाम्* शब्द का विशेष उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् सदा से गौओं एवं भक्तों के साथ सम्बन्धित रहते आये हैं। चित्रों में भगवान् कृष्ण को सदैव गायों तथा ग्वालबाल एवं गोपियों के साथ दिखाया जाता है। भगवान् कृष्ण अकेले नहीं रह सकते। अतः पृथु महाराज ने *सानुचरश्च* शब्द का प्रयोग किया है, जो इसका सूचक है कि वे सदा अपने अनुयायियों तथा भक्तों के साथ रहते हैं।

भक्त में देवताओं के सारे सद्गुण आ जाते हैं; वह *गुणायनम्* अर्थात् समस्त सद्गुणों का आगार होता है। उसकी एकमात्र सम्पत्ति सदाचरण है और वह कृतज्ञ होता है। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का एक गुण भगवत्कृपा के लिए कृतज्ञता है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् का कृतज्ञ होना चाहिए कि वे समस्त जीवात्माओं का पालन करते हैं और उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जैसाकि वेदों में (*कठोपनिषद् २.२.१३*) में कहा गया है—एको बहूनां यो विदधाति कामान्—परमेश्वर जीवात्माओं की सारी आवश्यकताएँ पूरी करता है। अतः जो जीवात्मा भगवान् के प्रति कृतज्ञ है, वह निश्चय ही सद्गुणों से पूर्ण है।

इस श्लोक का *वृद्धाश्रयं* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध से ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति का बोध होता है। वृद्ध पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनकी आयु अधिक होती है और दूसरे वे जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं। आयु बढ़ने से ही कोई वृद्ध नहीं हो जाता। जो ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा होता है, वही वास्तव में वृद्ध है (*ज्ञानवृद्ध*)। *वृद्धाश्रयं* का अर्थ हुआ वह व्यक्ति जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े गुरुजनों की शरण ग्रहण करता है, जो ब्राह्मण के समस्त गुणों को अर्जित कर सकता है और जिसे सदाचारी बनाया जा

सकता है। जब कोई सचमुच सद्गुणों को प्राप्त कर लेता है, वह भगवान् की कृपा के प्रति कृतज्ञ होता है तथा प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो वह सारे ऐश्वर्य से समन्वित होता है। ऐसा व्यक्ति ही ब्राह्मण या वैष्णव होता है। अतः पृथु महाराज भगवान् के पार्षदों, भक्तों, वैष्णवों, ब्राह्मणों तथा गौओं सहित भगवान् के आशीर्वादों तथा कृपा की याचना करते हैं।

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातयः ।

तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; नृ-पतिम्—राजा को; पितृ—पितृलोक के वासी; देव—देवता; द्वि-जातयः—तथा द्विजों ( ब्राह्मणों एवं वैष्णवों ) ने; तुष्टुवुः—सन्तुष्ट; हृष्ट-मनसः—मन में अत्यन्त प्रसन्न; साधु-वादेन—बधाई देते हुए; साधवः—उपस्थित समस्त साधु पुरुष।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : राजा पृथु को इस प्रकार सम्भाषण करते सुनकर सभी देवताओं, पितृलोक के वासियों, ब्राह्मणों तथा उस सभा में उपस्थित साधु पुरुषों ने अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए साधुवाद दिया।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति किसी सभा में बहुत अच्छा भाषण देता है, तो श्रोता लोग साधु! साधु! कहकर अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हैं। यही साधुवाद है। उस सभा में जितने साधु पुरुष, पितर तथा देवता उपस्थित थे और जिन्होंने पृथु महाराज को बोलते सुना उन्होंने साधु! साधु! शब्दों से अपनी शुभकामना व्यक्त की। उन सबों ने पृथु महाराज के सन्देश को अंगीकार कर लिया और वे अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः ।

ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

पुत्रेण—पुत्र के द्वारा; जयते—विजय प्राप्त करता है; लोकान्—समस्त स्वर्ग लोकों की; इति—इस प्रकार; सत्य-वती—सत्य होता है; श्रुतिः—वेद; ब्रह्म-दण्ड—ब्राह्मणों के शाप से; हतः—मारा गया; पापः—परम पापी; यत्—क्योंकि; वेनः—महाराज पृथु का पिता; अति—अत्यधिक; अतरत्—उद्धार हो गया; तमः—नारकीय जीवन के अंधकार से।

उन सबों ने घोषित किया कि वेदों का यह निर्णय पूरा हुआ कि पुत्र के कर्म से मनुष्य स्वर्गलोकों को जीत सकता है, क्योंकि ब्राह्मणों के शाप से मारा गया अत्यन्त पापी वेन अब अपने पुत्र महाराज पृथु के द्वारा नारकीय जीवन के गहन अंधकार से उबारा गया था।

**तात्पर्य :** वैदिक उल्लेख के अनुसार पुत्र नामक एक नारकीय ग्रह है और जो इस ग्रह से किसी व्यक्ति को उबारता है, वह पुत्र कहलाता है। अतः विवाह का उद्देश्य ऐसा पुत्र उत्पन्न करना है, जो अपने पिता का, चाहे वह पुत्र नरक में क्यों न गिरा हो, उद्धार कर सके। महाराज पृथु का पिता अत्यन्त पापी व्यक्ति था, अतः ब्राह्मणों ने शाप द्वारा उसे मार डाला था। उस सभा में उपस्थित सभी साधु पुरुष, मुनि तथा ब्राह्मण, महाराज पृथु से उनके जीवन के महदुद्देश्य को सुनकर आश्चर्य हो चुके थे कि वेदों का कथन सत्य सिद्ध हो चुका है। धार्मिक विवाह में पत्नी को ग्रहण करने का प्रयोजन पुत्र की प्राप्ति है—ऐसा पुत्र जो अपने पिता को नारकीय जीवन के गहन अंधकार से उबारने में समर्थ हो। विवाह का उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति नहीं, अपितु अपने पिता को उबारने वाले योग्य पुत्र की प्राप्ति है। किन्तु यदि पुत्र अयोग्य असुर हो जाये तो फिर वह अपने पिता को नारकीय जीवन से कैसे उबार सकता है? अतः पिता का धर्म है कि वह वैष्णव होकर बच्चों को वैष्णव बनाए। तब यदि पिता धोखे से भी अगले जन्म में नरक में गिरता है, तो ऐसा पुत्र उसी प्रकार उसे उबार सकता है, जिस प्रकार महाराज पृथु ने अपने पिता का उद्धार किया।

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः ।

विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः ॥ ४७ ॥

#### शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—प्रह्लाद महाराज का पिता; च—भी; अपि—पुनः; भगवत्—भगवान् की; निन्दया—निन्दा से; तमः—नारकीय जीवन के गहनतम क्षेत्र में; विविक्षुः—प्रविष्ट किया; अत्यगात्—उबार लिया गया; सूनोः—अपने पुत्र; प्रह्लादस्य—महाराज प्रह्लाद के; अनुभावतः—प्रभाव से।

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु अपने पापकर्मों से भगवान् की सत्ता ( श्रेष्ठता ) का उल्लंघन करता हुए नारकीय जीवन के गहनतम क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ, किन्तु अपने महान् पुत्र प्रह्लाद महाराज की कृपा से उसका भी उद्धार हो सका और वह भगवान् के धाम वापस चला गया।

**तात्पर्य :** जब प्रह्लाद महाराज को उनकी भक्ति तथा सहिष्णुता के कारण नृसिंह देव ने वर दिया तो उन्होंने भगवान् के एक भी वर को यह सोचकर स्वीकार नहीं किया कि, ऐसा करना एक निष्ठावान् भक्त को शोभा नहीं देता। अच्छा पुरस्कार पाने के लालच से भगवान् की सेवा किये जाने को प्रह्लाद महाराज ने एक व्यापारिक सौदा मानते हुए तिरस्कृत किया है। चूँकि प्रह्लाद महाराज वैष्णव थे, अतः उन्होंने अपने लिए कोई वरदान न माँग कर अपने पिता के प्रति वत्सलता प्रकट की। यद्यपि उनके पिता

ने उन्हें यातनाएँ दी थी और यदि भगवान् ने उसका वध न कर दिया होता तो उसके द्वारा वे स्वयं मारे गये होते, किन्तु तो भी प्रह्लाद महाराज ने उसके लिए भगवान् से क्षमा माँगी। भगवान् ने उनकी अभिलाषा स्वीकार करके हिरण्यकशिपु को नारकीय जीवन के गहनतम अंधकार से उबारा, जिससे वह अपने पुत्र की कृपा से भगवान् के धाम वापस जा सका। प्रह्लाद महाराज ऐसे वैष्णव के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, जो इस संसार में नारकीय जीवन बिताने वाले पापी पुरुषों के प्रति अत्यन्त दयालु होते हैं। इसीलिए कृष्ण पर-दुःख-दुःखी कृपाम्बुधिः नाम से जाने जाते हैं। भगवान् के सभी शुद्ध भक्त प्रह्लाद महाराज के ही समान इस संसार में पापी लोगों के उबारने के लिए दया से परिपूर्ण हो कर आते हैं। वे सभी प्रकार के कष्टों को सहिष्णु बन कर सहते हैं, क्योंकि वैष्णव का यह एक अन्य गुण है, जो संसार की नारकीय दशाओं से पापी पुरुषों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहता है। अतः वैष्णवों की निम्न विधि से स्तुति की जाती है—

*वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।*

*पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥*

वैष्णव का मुख्य कार्य पतित आत्माओं का उद्धार करना है।

वीरवर्य पितः पृथ्व्याः समाः सञ्जीव शाश्वतीः ।  
यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैकभर्तारि ॥ ४८ ॥

#### शब्दार्थ

वीर-वर्य—वीरों में सर्वश्रेष्ठ; पितः—पिता; पृथ्व्याः—पृथ्वी का; समाः—वर्ष में बराबर; सञ्जीव—जीवित रहते; शाश्वतीः—सदा के लिए; यस्य—जिसका; ईदृशी—इस तरह; अच्युते—परमेश्वर को; भक्तिः—भक्ति में बराबर; सर्व—सभी; लोक—लोक, ग्रह; एक—एक; भर्तारि—पालक।

सभी साधु ब्राह्मणों ने पृथु महाराज को इस प्रकार सम्बोधित किया—हे वीरश्रेष्ठ, हे पृथ्वी के पिता, आप दीर्घजीवी हों, क्योंकि आपमें समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी अच्युत भगवान् के प्रति अत्यधिक श्रद्धा है।

तात्पर्य : सभा में उपस्थित साधु पुरुषों ने पृथु महाराज को दीर्घ आयु प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया, क्योंकि भगवान् के प्रति उनकी श्रद्धा तथा भक्ति अटूट थी। यद्यपि जीवन की अवधि सीमित वर्षों की होती है, किन्तु यदि सौभाग्यवश कोई भक्त हो जाता है, तो वह प्रदत्त जीवन-अवधि को पार कर लेता है। निस्सन्देह कभी-कभी योगी अपने इच्छानुसार मरते हैं, प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं।

भक्त की दूसरी विशेषता यह है कि वह भगवद्भक्ति के कारण सदा-सदा के लिए जीवित रहता है। कहा गया है कि *कीर्तिर्यस्य स जीवति*—“जो अपने पीछे अच्छी ख्याति छोड़ता है, वह सदैव जीवित रहता है।” विशेष रूप से भगवान् का भक्त तो निश्चित रूप से सदैव जीवित रहता है। जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु रामानन्द राय से वार्तालाप कर रहे थे तो चैतन्य महाप्रभु ने पूछा, “सबसे बड़ा यश क्या है?” रामानन्द राय का उत्तर था—जो महान् भक्त के रूप में ख्यातिप्राप्त है उसी की सर्वाधिक ख्याति है, क्योंकि भक्त न केवल वैकुण्ठलोक में ही सदैव वास करता है, किन्तु वह इस संसार में भी अपनी ख्याति से सदा जीवित रहता है।

अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते

त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः ।

य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णो-

ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥ ४९ ॥

#### शब्दार्थ

अहो—ओह, अरे; वयम्—हम; हि—निश्चय ही; अद्य—आज; पवित्र-कीर्ते—हे परम शुद्ध; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; नाथेन—भगवान् द्वारा; मुकुन्द—श्रीभगवान्; नाथाः—परमेश्वर की प्रजा होकर; ये—जो; उत्तम-श्लोक-तमस्य—भगवान् का, जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों द्वारा की जाती है; विष्णोः—विष्णु का; ब्रह्मण्य-देवस्य—ब्राह्मणों के पूज्य भगवान् का; कथाम्—शब्द; व्यनक्ति—व्यक्त किये गये।

श्रोताओं ने आगे कहा : हे राजा पृथु, आपकी कीर्ति परम शुद्ध है, क्योंकि आप ब्राह्मणों के स्वामी भगवान् की महिमाओं का उपदेश दे रहे हैं। हमारे बड़े भाग हैं कि हमने आपको स्वामी रूप में प्राप्त किया जिससे हम अपने आपको भगवान् के प्रत्यक्ष आश्रय में समझ रहे हैं।

तात्पर्य : नागरिकों ने घोषित किया कि महाराज पृथु के संरक्षण में रहते हुए वे अपने को भगवान् के ही संरक्षण में समझ रहे हैं। इस संसार में इस प्रकार की समझ सामाजिक स्थायित्व की सही स्थिति है। चूँकि वेदों का कथन है कि भगवान् ही समस्त जीवों के पालक और नायक हैं, अतः राजा या शासनाध्यक्ष को परम पुरुष का प्रतिनिधि होना चाहिए। तभी वह भगवान् के समान सम्मान प्राप्त करने का दावा कर सकता है। इस श्लोक में यह भी संकेत किया गया है कि राजा या शासनाध्यक्ष किस प्रकार समाज का नायक बन सकता है, क्योंकि पृथु महाराज भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता तथा उनकी महिमा का गान कर रहे थे। ऐसे राजा या नेता की अध्यक्षता में रहना मानव समाज का पूर्ण अधिकार है। अतः वे भगवान् के उचित प्रतिनिधि थे। ऐसे राजा या नेता का मूल दायित्व अपने राज्य में ब्राह्मण-

सभ्यता तथा गौओं को सुरक्षा प्रदान करना है।

नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम् ।  
प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ॥ ५० ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; अति—अत्यधिक; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; इदम्—यह; नाथ—हे स्वामी; तव—तुम्हारा; आजीव्य—आय का स्रोत; अनुशासनम्—प्रजा के ऊपर शासन; प्रजा—नागरिक; अनुरागः—प्रेम; महताम्—बड़े का; प्रकृतिः—प्रकृति; करुण—दयावान; आत्मनाम्—जीवात्माओं का।

हे नाथ! अपनी प्रजा पर शासन करना तो आपका वृत्तिपरक धर्म है। यह आप-जैसे महापुरुष के लिए कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है, क्योंकि आप अत्यन्त दयालु हैं और अपनी प्रजा के हितों के प्रति अत्यन्त प्रेम रखते हैं। यही आपके चरित्र की महानता है।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा की रक्षा करे और अपनी जीविका के लिए उस पर कर लगाए। चूँकि वैदिक समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित है, अतः शास्त्रों में उनकी जीविका के साधनों का भी उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणों को चाहिए कि वे ज्ञान का प्रसार करें, अतः वे अपने शिष्यों से दान ले—किन्तु राजा को चाहिए कि वह प्रजा को जीवन के उच्चतम स्तर तक उठाने के लिए सुरक्षा प्रदान करे, अतः वह इसके लिए प्रजा पर कर लगा सकता है। चूँकि वणिक वर्ग सारे समाज के लिए अन्न उत्पन्न करता है, अतः वह इससे थोड़ा लाभ ले सकता है, जबकि शूद्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों या वैश्यों की भाँति कार्य नहीं कर सकते, अतः उन्हें समाज के उच्चतर वर्गों की सेवा करनी चाहिए और उनसे अपने जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूरी करवानी चाहिए।

यहाँ पर योग्य राजा या राज नेता के लक्षणों को इस प्रकार बताया गया है—उसे लोगों पर अत्यन्त दयालु होना चाहिए और उनके मुख्य हित का ध्यान रखना चाहिए जो कि उन्हें भगवान् का उच्चस्थ भक्त बनना है। महापुरुष स्वभाव से अन्यो का हित करने वाले होते हैं और एक वैष्णव तो समाज का सबसे दयालु व्यक्ति होता है। अतः हम वैष्णव नायक को इस प्रकार प्रणाम करते हैं—

*वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।*

*पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥*

एकमात्र वैष्णव नेता ही लोगों की समस्त अभिलाषाओं को पूरा कर सकता है ( *वाञ्छाकल्पतरुः*) और वह अत्यन्त दयावान होता है, क्योंकि वह मानव-समाज का महान् कल्याणकर्ता है। वह

पतितपावन है, क्योंकि यदि राजा या शासनाध्यक्ष ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के पदचिह्नों पर चलते हैं, जो स्वभावतः प्रचार-कार्य में अग्रणी होते हैं, तो वैश्य भी वैष्णवों तथा ब्राह्मणों का अनुसरण करेंगे और शूद्र इनकी सेवा करेंगे। इस प्रकार सारा समाज जीवन की परम सिद्धि हेतु एक परिपूर्ण संस्था बन जाता है।

अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो ।  
भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्देवसंज्ञितैः ॥ ५१ ॥

#### शब्दार्थ

अद्य—आज; नः—हम सबों का; तमसः—संसार के अंधकार का; पारः—दूसरी ओर; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उपासादितः—बढ़ा हुआ; प्रभो—हे स्वामी; भ्राम्यताम्—भटकने वालों को; नष्ट-दृष्टीनाम्—जिनका जीवन-लक्ष्य खो चुका है; कर्मभिः—गत कर्मों के कारण; देव-संज्ञितैः—श्रेष्ठ अधिकारी द्वारा व्यवस्थित।

नागरिकों ने आगे कहा : आज आपने हमारी आँखें खोल दी हैं और हमें बताया है कि इस अंधकार के सागर को किस प्रकार पार किया जाये। अपने पूर्वकर्मों तथा दैवी व्यवस्था के कारण हम सकाम कर्मों के जाल में फँसे हुए हैं और हमारा जीवन-लक्ष्य ओझल हो चुका है, जिसके कारण हम इस ब्रह्माण्ड में भटक रहे हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में कर्मभिः देव-संज्ञितैः पद अत्यन्त सार्थक है। अपने कर्मों के गुण के अनुसार हम प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में आते हैं और दैवी विधान के द्वारा हमें विभिन्न प्रकार के शरीरों में ऐसे कर्मों के फलों को भोगने का अवसर मिलता है। इस प्रकार सभी जीवात्माएँ अपने जीवन-लक्ष्य के ओझल होने से विभिन्न योनियों में ब्रह्माण्ड भर में भटकती रहती हैं—कभी निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करती हैं, तो कभी स्वर्ग लोक में स्थान प्राप्त करती हैं—इस प्रकार हम सभी अनन्त काल से भटकते रहे हैं। गुरु तथा भगवान् की कृपा से हमें भक्ति का संकेत प्राप्त होता है और तब हमारे जीवन की प्रगति शुरू होती है। यहाँ पर राजा पृथु के प्रजा जनों ने इसे स्वीकार किया है; वे पूरी चेतनावस्था में यह स्वीकार कर रहे हैं कि महाराज पृथु के कार्यों से वे लाभान्वित हुए हैं।

नमो विवृद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे ।  
यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा ॥ ५२ ॥

#### शब्दार्थ



नमः—नमस्कार है; विवृद्ध—अत्यन्त सम्मानित; सत्त्वाय—सत्त्व को; पुरुषाय—पुरुष को; महीयसे—इस प्रकार से महिमामंडित पुरुष को; यः—जो; ब्रह्म—ब्राह्मण संस्कृति; क्षत्रम्—प्रशासनिक कार्य; आविश्य—प्रविष्ट होकर; बिभर्ति—पालन करते हुए; इदम्—यह; स्व-तेजसा—अपने तेज से।

हे स्वामी! आप विशुद्ध सत्त्व-स्थिति को प्राप्त हैं, अतः आप परमेश्वर के सक्षम प्रतिनिधि हैं। आप अपने तेज से ही महिमावान हैं और इस तरह ब्राह्मण-संस्कृति को पुनर्स्थापित करते हुए सारे संसार का पालन करते हैं तथा अपने क्षात्र धर्म का निर्वाह करते हुए प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मण-संस्कृति के समुचित प्रसार तथा सरकार की समुचित सुरक्षा के बिना समाज का कोई मानदण्ड स्थिर नहीं रह सकता। इस बातको इस श्लोक में उस महाराज पृथु की प्रजा ने स्वीकार किया है, जो अपनी सत्त्व-स्थिति के कारण अपने राज्य में अद्भुत स्थिति बनाये रखने में समर्थ थे। *विवृद्ध-सत्त्वाय* शब्द सार्थक है। भौतिक जगत में तीन गुण होते हैं—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। तमोगुण से सतोगुण तक पहुँचने के लिए भक्ति एक साधन है। जीवन के निम्न स्तर से उच्चतम स्तर तक उठने के लिए भक्ति करने के अलावा और कोई साधन नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* के पिछले अध्यायों में यही उपदेश दिया गया है कि मनुष्य निम्न स्थिति से उच्चतम स्थिति तक पहुँचने के लिए भक्तों की संगति करे और उनके मुख से *श्रीमद्भागवत* का नियमित श्रवण करे।

*शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।*

*हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥*

“जब मनुष्य श्रवण तथा कीर्तन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भक्ति की ओर उन्मुख होता है, तो प्रत्येक हृदय के वासी भगवान् भक्त के हृदय को पवित्र करने में सहायता पहुँचाते हैं।” (*भागवत* १.२.१७)। इस प्रकार उत्तरोत्तर शुद्धि से रजो तथा तमो गुणों का प्रभाव जाता रहता है और मनुष्य सत्त्व पद को प्राप्त होता है। रजो तथा तमो गुणों के सम्पर्क से मनुष्य लालची तथा कामी हो जाता है, किन्तु जब वही मनुष्य सत्त्वपद तक उठ जाता है, तो वह जीवन की किसी भी स्थिति से सन्तुष्ट रहता है और लालच तथा वासना से विहीन हो जाता है। ऐसी मानसिकता उसके सत्त्वपद पर स्थित होने की सूचक है। मनुष्य को इस सत्त्व को पार करके विशुद्ध सत्त्व तक ऊपर उठना होता है, जिसे *विवृद्ध सत्त्व* कहते हैं। सत्त्व की इस विवृद्ध अवस्था में मनुष्य कृष्णभावनाभावित (भक्त) हो सकता है। इसीलिए महाराज पृथु को यहाँ पर *विवृद्ध सत्त्व* के रूप में सम्बोधित किया गया है। यद्यपि महाराज पृथु शुद्ध भक्त के

दिव्य पद पर स्थित थे, किन्तु मानव समाज के हित में वे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के पद पर उतर आये थे और इस प्रकार अपने तेज से उन्होंने सारे संसार को संरक्षण प्रदान किया था। यद्यपि वे क्षत्रिय राजा थे, किन्तु वैष्णव होने के कारण ब्राह्मण भी थे। ब्राह्मण के रूप में वे प्रजा को समुचित आदेश दे सकते थे और क्षत्रिय रूप में उसे सुरक्षा प्रदान कर सकते थे। इस प्रकार महाराज पृथु की प्रजा एक कुशल राजा के द्वारा सभी प्रकार से सुरक्षित थी।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “महाराज पृथु द्वारा उपदेश” नामक इक्कीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*